क्या
धर्म बुद्धिगम्य है ?

आचार्य तुलसी

★

समालोचनार्थ

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

प्राथमिकी

●

क्या धर्म बुद्धिगम्य है ? यह प्रश्न उन लोगोंके लिए अधिक महत्त्वका नहीं है जो धर्मकी साधनामें संलग्न हैं और उसकी रसानुभूति कर चुके हैं । साधना और बुद्धिमें अपरिमेय दूरी है । साधनाके परिपार्श्वमें सिद्धान्त निर्मित होते हैं और बुद्धि उन सिद्धान्तोंकी ऊँचाई तक पहुँचनेसे पूर्व ही क्लान्त और श्रान्त होकर अपना भाग्य श्रद्धाके हाथों सौंप देती है । इसीलिए बहुत बार कहा जाता है, धर्म श्रद्धा-गम्य है । इसमें बहुत बड़ा सत्य छिपा हुआ है । पर जो लोग श्रद्धासे खाली हैं अर्थात् जिन लोगोंमें इच्छा-शक्तिको घनीभूत करनेके लिए पर्याप्त आत्म-विश्वास नहीं, मनको एकाग्र या निरुद्ध करनेकी शक्ति नहीं है, वे इस सत्यको कैसे समझ सकते हैं कि धर्म श्रद्धागम्य है ? उनके लिए इस प्रश्नका महत्त्व है कि क्या धर्म बुद्धिगम्य है ? सही बात यह है कि धर्म बुद्धिगम्य है, यह बात सोलह आना सही नहीं है । पर यह भी सोलह आना सही नहीं है कि धर्म बुद्धिगम्य नहीं है । दोनोंके मध्यमें प्राप्त होनेवाला तथ्य यह है कि धर्म बुद्धिसे सर्वथा गम्य नहीं है तो सर्वथा अगम्य भी नहीं है ।

धर्मसे केवल परलोक ही सुधरता और केवल आत्माकी अगम्य वृत्तियाँ ही विकसित होतीं तो वह बुद्धिसे अगम्य ही होता। उस धर्ममें फिर वे लोग ही विश्वास करते जिन्हें श्रद्धा प्राप्त होती। किन्तु धर्मसे इहलोक (या वर्तमान जीवन) भी सुधरता है और उससे आत्माकी गम्य वृत्तियाँ भी विकसित और समुन्नत होती है इसलिए वह बुद्धिगम्य है। ऐसे धर्ममें वे लोग भी आस्था बाँध सकते हैं, जिन्हें श्रद्धा प्राप्त नहीं है।

जिसके जीवनमें धर्म है, उसे इसी जन्ममें मोक्षका अनुभव हो सकता है और जिसके जीवनमें धर्म नहीं है, उसे इसी जीवनमें बन्धनका अनुभव होता है। यह स्पष्ट और निर्विवाद सत्य धर्म-साधनाका आदि-बिन्दु हो तो मुझे विश्वास है कि धर्मका द्वार उन लोगोंके लिए भी खुल जायेगा, जो बुद्धिवादके रंगमें रँगकर उससे दूर भागते हैं और वे लोग भी अधिक लाभान्वित होंगे जो धर्मको केवल परलोककी छायामें ही देखते हैं।

मुनि दुलहराजने इन निबन्धोंका संचयन कर पाठक-वर्गके सम्मुख आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की है। मुझे विश्वास है कि इससे धर्म-विषयक धारणा स्पष्ट होगी।

फाल्गुन कृष्णा ६ —आचार्य तुलसी
नगर (राजस्थान)

● ● ● ●

क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?

• •

क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?

कहा जाता है धर्म श्रद्धागम्य है। वह बुद्धिगम्य नहीं हो सकता। किन्तु यह अधूरा सच है। धर्म केवल श्रद्धागम्य ही नहीं है। वह बुद्धिगम्य भी है। श्रद्धा उसीको पकड़ती है जो पहले बुद्धिकी पकड़में आ जाता है। धर्म नितान्त परोक्ष नहीं है। वह प्रत्यक्ष भी है। जो धर्मका साक्षात् नहीं करता, वह शायद उसे जानता भी नहीं और सही अर्थमें मानता भी नहीं। हम धर्मका साक्षात् करके ही धार्मिक बन सकते हैं।

कुछ लोग मानते हैं कि धर्मका फल परलोकमें मिलेगा। मिलता होगा, मैं नहीं जानता। किन्तु जिसका इस लोकमें कोई फल नहीं उसका फल परलोकमें कैसे मिलेगा ? भविष्य कभी भी वर्तमानकी उपेक्षा नहीं करता। हम वर्तमानको उज्ज्वल बनाकर ही भविष्यको उज्ज्वल बना सकते हैं। धर्मका फल क्या है ? यह सम्पदा और ऐश्वर्य जो है वह धर्मका फल नहीं है, यह परिश्रमका फल है, अपने-अपने कृत-कर्मोंका फल है। पर धर्मका फल नहीं है। धर्मका फल है, शान्ति, धर्मका फल है पवित्रता, धर्मका फल है सहिष्णुता और धर्मका फल है प्रकाश। अशान्तिमें-से जो आदमी शान्तिको ढूँढ़ निकालता है, अपवित्रतामें-से जो पवित्रताको ढूँढ़ निकालता है, असन्तुलनमें-से जो सहिष्णुताको ढूँढ़ निकालता है और अन्धकारमें-से जो प्रकाशको ढूँढ़ निकालता है, वह धार्मिक है, उसे धर्मका फल प्राप्त है। उसके हाथमें वर्तमान भी है और भविष्य भी।

मैं धर्मको नितान्त आस्थावाद मानता हूँ। परिस्थितिवादके साथ जूझनेमें उसके समान प्रबल आस्थावादी कोई तत्त्व नहीं है। भौतिकवादीकी सर्वाधिक दुर्बलता यही है कि वह विशुद्ध परिस्थितिवादी है।

परिस्थितिके व्यूहको छोड़कर स्वयं स्फुरित होनेवाला स्वतन्त्र कर्तृत्व या चैतन्य उसकी कल्पनामें नहीं है। इसीलिए भौतिकवाद धर्मकी ओर झांकता भी नहीं है।

अध्यात्मवादका प्रमुख तत्त्व है चैतन्य। परिस्थितियोंसे घिरा होने-पर भी वह स्वतन्त्र है। उसका स्वतन्त्र कर्तृत्व है। उसकी स्वतन्त्रताका अजस्र स्रोत ही धर्म है। उसकी जितनी परतन्त्रता है, वह अधर्म है। धर्म जैसे साधारणतया माना जाता है, वैसे बाहरी तत्त्व नहीं है यानी भौतिक-जगत्में इसका प्रवेश नहीं। यह व्यक्तिकी आन्तरिक वृत्तियाँ हैं। आत्मा जब परिस्थितिसे पराजित नहीं होता तब उसमें स्वतन्त्रताका विकास होता है यानी धर्मका विकास होता है और जब वह परिस्थितिके सामने घुटने टेक देता है तब उसमें परतन्त्रताका उदय होता है।

आदमी जितना अकृत्य करता है, वह सब परिस्थितिसे पराजित होकर ही करता है। यदि वह परिस्थितिपर विजय पाना सीख ले तो अकृत्य स्वयं समाप्त हो जाये। धर्मकी शिक्षाका अर्थ यही है – परिस्थिति-पर विजय पानेकी शिक्षा। अनुशासनहीनता इसीलिए पनप रही है कि उसे परिस्थितिको जीतनेकी बात नहीं सिखायी जाती। अप्रिय घटनाओं, अनिष्ट संयोगों एवं कठिन परिस्थितियोंपर विजय पानेको अपना धर्म माननेवाला ही अनुशासित रह सकता है। जो ऐसा नहीं मानता वह प्रतिकूल संयोगोंसे उच्छृंखल बन जाता है। आजके शिक्षा-शास्त्री लक्ष्य-हीनता उत्पन्न कर अनुशासनको बनाये रखना चाहते है, यह कोरा प्रेम-जाल है।

धर्मका पहला सूत्र है आस्था। आस्थावान् अपने लक्ष्यसे कभी विचलित नहीं होता। उसमें जैसे-जैसे आस्था प्रबल होती है, वैसे-वैसे वह ज्ञान और चरित्रका विशेष अधिकार पाता है। जिसे अपने-आपमें आस्था नहीं होती वह सदा लड़खड़ाये चलता है। यह आस्था किसी व्यक्तिको निसर्गसे प्राप्त होती है और कोई व्यक्ति इसे ज्ञान-द्वारा प्राप्त

करता है। नैतिक या चारित्रिक नियमोंके प्रति जो धार्मिक माध्यमसे आस्था बनती है, वह अपरिहार्य होती है। उसमें फिसलन नहीं होती या आपवादिक ही होती है। अकर्तव्यके प्रति जो पश्चात्तापका भाव है, वह धर्म बुद्धिकी ही देन है। धर्म उसी व्यक्तिमें ही नहीं होता जो अपने-आपको धार्मिक मानता है। कई बार ऐसा भी होता है कि जो अपने-आपको अधार्मिक मानता है, उसमें भी धर्म प्रखर हो उठता है। धर्म चेतनाकी ऐसी सहजता है कि अधार्मिक होकर कोई व्यक्ति जी ही नहीं सकता। एक आदमी उद्देश्यपूर्वक धर्मकी आराधना करता है तो उसे आत्म-शान्ति प्रबल रूपमें मिलती है। एक आदमी उद्देश्यके बिना सहज भावसे जाने-अनजाने धर्मकी आराधना करता है तो उसे आत्म-शान्ति क्षीण रूपमें मिलती है। यह सहजता है कि कोई भी आदमी निरन्तर हिंसा कर ही नहीं सकता और निरन्तर झूठ बोल ही नहीं सकता। किन्तु आत्म-विश्वासके उद्देश्यसे जो हिंसा नहीं करता और झूठ नहीं बोलता उसे जो शक्ति प्राप्त होती है, वह शक्ति उस व्यक्तिको प्राप्त नहीं होती, जो सहज भावमें अहिंसा और सत्यका पालन करता है। फिर भी यह निश्चित है कि संसारमें ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो केवल धार्मिक ही हो या केवल अधार्मिक ही हो। धर्मके वातावरणमें रहने-वालोंमें भी हजारों क्रोधी और दम्भी हैं तथा उससे दूर रहनेवालोंमें भी हजारों शान्ति और सरल वृत्तिके लोग हैं। इसीलिए मैं मानता हूँ कि धर्म और सम्प्रदाय एक नहीं हैं। कुछ विचारक लोग ऐसा कहते हैं कि अब धर्मका युग चला गया, अब अध्यात्मका युग है। पर मैं तो धर्म और अध्यात्मको एक ही मानता हूँ। मेरी भाषामें धर्म वही है जो आत्माकी अन्तःस्फूर्त पवित्रता है। अध्यात्म भी वही है। कोई भी क्रियाकाण्ड इस पवित्रतासे अस्पृष्ट रहकर धर्म नहीं हो सकता। हम बहुत बार धर्मके निमित्त कारणोंको भी धर्म कह देते हैं। किन्तु वस्तुतः उन्हें साम्प्रदायिक विधि-विधान कहना चाहिए, शाश्वत धर्म नहीं। शाश्वत धर्म जो है, वह

सबके लिए, सब स्थितियोंमें, सदा, सर्वथा एक ही हो सकता है। इसीलिए उसमें व्यक्ति, जाति, वर्ग, राष्ट्र, वर्ण, लिंग, देश और कालका कोई अन्तर नहीं हो सकता है। मनुष्यमें धर्म-भावना जितनी दुर्बल होती है उसमें भेद-बुद्धि उतनी ही प्रबल होती है। जातीयताके कारण हिन्दू और मुसलमान और वर्ण-भेदके कारण काले और गोरे इस प्रकार विभक्त हो गये हैं कि उनकी मानवीय एकता भेद-बुद्धिके नीचे दब-सी गयी है। रूसी भी आदमी हैं और अमेरिकन भी आदमी हैं। पर राष्ट्रीय संकुचितताके कारण उनकी यह बुद्धि आहत-सी हो गयी है कि मनुष्य-मनुष्य एक है। यह सारा भेद अधर्म, अनध्यात्मसे प्राप्त होता है। इस संकटका एक मान्य प्रतिकार अध्यात्म या धर्म ही है। इस तथ्यको बुद्धिगम्य किये बिना सारा बुद्धिवाद खतरेमें पड़ जायेगा।

■

धर्मका अर्थ है विभाजनका अन्त

आज धर्म और कर्मकी समस्या बड़ी जटिल हो रही है। कर्म इतना बढ़ रहा है कि जितना आवश्यक नहीं है। धर्म इतना क्षीण हो रहा है जितना नहीं होना चाहिए। औद्योगिक युग है! उद्योग कर्मपर टिके हुए हैं। कर्मको तो बढ़ना ही चाहिए पर धर्मको क्षीण क्यों होना चाहिए? कर्म उसका विरोधी नहीं है। वह तो उसका पोषक है। कर्म बढ़ता है तब धर्मकी अपेक्षा अधिक अनुभूत होता है।

फिर प्रश्न होता है, धर्म क्षीण क्यों हो रहा है? अपनी दृष्टिसे कहूँ तो यही कह सकता हूँ कि धर्म क्षीण नहीं हो रहा है। क्षीण हो रहा है साम्प्रदायिक आग्रह, अभिनिवेश और संकीर्ण मनोभाव जो धर्म था ही नहीं। जब ही धर्म सम्प्रदायमें अटक गया तबसे ही गति-हीन हो गया। बहुत धार्मिक ऐसे हैं जो धर्मके नामपर कुछ और ही कमाते हैं। धर्मकी आराधनाके लिए सम्प्रदाय बने। धर्म प्रधान रहा और सम्प्रदाय गौण। काल-परिपाकसे उलटा हो गया – सम्प्रदाय प्रधान हो गये, धर्म गौण। धर्मका सन्देश था – प्रेम, मैत्री और समता। सम्प्रदायोंमें विकसित हुए – वैर, विरोध और विषमता। धर्मका सन्देश था – तुम सब समान हो या एक हो क्योंकि तुम सब एक ही या एक-जैसे ही चैतन्यसे अभिन्न हो। सम्प्रदायसे फलित हुआ – तुम सब अलग-अलग हो, क्योंकि तुम्हारा धर्म भिन्न-भिन्न है। तुम जैन हो, तुम शैव हो, तुम वैष्णव हो और तुम बौद्ध हो आदि-आदि। धर्मका उद्देश्य था – सब अविभक्त हों। सम्प्रदायका उद्देश्य हो गया विभक्तीकरण।

आज समूची मनुष्य जाति संख्यामें बँटी हुई है। इतने करोड़ ईसाई

है, इतने करोड़ बौद्ध हैं, इतने करोड़ हिन्दू हैं, इतने करोड़ मुसलमान हैं और इतने जैन आदि-आदि। भौगोलिक सीमा, जाति आदिने मनुष्य-जातिको बाँटा तो उनका आधार भौतिक था इसलिए उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। पर धर्म-सम्प्रदाय ही मनुष्य-जातिको विभक्त कर डाले, वह अक्षम्य है। उसका आधार ही समता या एकता है। मैं सम्प्रदायों या संस्थानोंको अनुपयोगी नहीं मानता किन्तु उसमें जो अनुपयोगी तत्त्व आ घुसे हैं, उन्हे हेय मानता हूँ और उनका परिमार्जन आजकी स्थितिकी अनिवार्य माँग है। हिन्दुस्तान संघर्षके बादलोंके नीचे है। उनसे उन्मुख कोई भी देश नहीं कहा जा सकता। कर्मसे मनुष्य इतना दब गया है कि वह मानवीय एकताको चाहते हुए भी कर नहीं पा रहा है। उसका एक-मात्र साधन धर्म है और वह धर्म, जहाँ सम्प्रदाय गौण हो और धर्म प्रधान। इस धर्मकी आराधनासे ही मनुष्य-जाति अविभक्त हो सकती है।

धर्म गौण इसलिए बनता है कि लोग अपने माने हुए प्रभुकी उपासना करते हैं पर अपनेमें विराजे हुए प्रभुकी आराधना नहीं करते। माने हुए प्रभुकी उपासना करनेसे श्रद्धाका केन्द्र पुष्ट होता है पर अपने प्रभुकी महानताको जमानेका यथेष्ट यत्न नहीं होता; आश्रय प्रधान हो जाता है, करणीय गौण। इसीका अर्थ है सम्प्रदाय प्रधान और धर्म गौण।

जितना बल उपासनापर दिया जाता है, उससे अधिक बल यदि क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचन और ब्रह्मचर्यपर दिया जाये तो धर्म प्रधान हो सकता है और सम्प्रदाय गौण।

१. धार्मिक वह हो सकता है, जो सहिष्णु हो। असहिष्णुसे विभाजन होता है, एकीकरण नहीं।

२. धार्मिक वह हो सकता है, जो मृदु हो – जाति, कुल, विद्या, ऐश्वर्य आदिसे हीन लोगोंका तिरस्कार न करे। मदसे विभाजन होता है, एकीकरण नहीं।

३. धार्मिक वह हो सकता है, जो ऋजु हो – कपटपूर्ण व्यवहारसे विभाजन होता है, एकीकरण नहीं ।

४. धार्मिक वह हो सकता है, जो अर्थ-लोलुप न हो । अर्थ-लोलुपतामें विभाजन होता है, एकीकरण नहीं ।

५. धार्मिक वह हो सकता है, जो सत्यभाषी हो । असत्यसे विभाजन होता है, एकीकरण नहीं ।

६. धार्मिक वह हो सकता है, जो संयमी हो । असंयमसे विभाजन होता है, एकीकरण नहीं ।

७. धार्मिक वह हो सकता है, जो तप-परायण है । असत् प्रवृत्तिसे विभाजन होता है, एकीकरण नहीं ।

८. धार्मिक वह हो सकता है, जो त्यागशील हो । संग्रहसे विभाजन होता है, एकीकरण नहीं ।

९. धार्मिक वह हो सकता है, जो अकिंचन हो – शरीरके प्रति अनासक्त हो । आसक्तिसे विभाजन होता है, एकीकरण नहीं ।

१०. धार्मिक वह हो सकता है, जो ब्रह्मचारी हो – इन्द्रियविजेता हो । इन्द्रियलोलुपतासे विभाजन होता है, एकीकरण नहीं ।

इनके अभ्याससे कर्मका दोष घुलता है और अनेकता एकतामें बदलती है, जिसकी आज बहुत बड़ी अपेक्षा है ।

■

धर्म और वैयक्तिक स्वतन्त्रता

मैं धर्मको जीवनके लिए बहुत आवश्यक मानता हूँ। वह हमारी सुख-शान्तिका सर्वोच्च हेतु है। सुख-शान्तिका अनुभव स्वतन्त्र वातावरणमें ही हो सकता है। हम दूसरे राष्ट्र या दूसरी जातिसे ही परतन्त्र नहीं होते, किन्तु अपनी मिथ्या मान्यता और अपने आवेगोंसे भी परतन्त्र होते हैं।

हमारी वैयक्तिक स्वतन्त्रता उतनी ही सुरक्षित होगी, जितने हम धार्मिक होंगे। धर्मसे हमें आत्मानुशासन प्राप्त होता है और वह हमारी स्वतन्त्रताका मूल मन्त्र है।

हर सामाजिक मनुष्य भौतिकता और आध्यात्मिकताके संगममें जीता है। भौतिकता जीवनकी अपेक्षा है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। पर वह जीवनका ध्येय नहीं है और होना भी नहीं चाहिए। आध्यात्मिकता जीवन-निर्वाहकी अपेक्षा नहीं है पर वह हमारा ध्येय है। हम उस ओर चलते हैं, तब भौतिकता खतरनाक नहीं बनती।

सभी देशों और कालोंमें आध्यात्मिकताका विकास हुआ है। सभी धर्मोंने न्यूनाधिक मात्रामें उसे महत्त्व दिया है। इसीलिए हर धर्ममें अहिंसा, सत्य और अपरिग्रहकी चरचा मिलती है।

साम्प्रदायिकता, रंग-भेद, जातीयता, प्रान्तीयता, राष्ट्रीयता, भाषावाद आदि दोष, जिनसे मनुष्य-जाति विभक्त है, तबतक नष्ट नहीं होंगे, जबतक धर्म जीवनमें नहीं आयेगा।

अणुव्रत-आन्दोलन इस बातपर बहुत बल देता है कि धर्म उपासना-कालमें ही नहीं, जीवनके हर व्यवहारमें होना चाहिए। मनुष्यका व्यवहार नैतिकतासे और नैतिकता आध्यात्मिकतासे प्रभावित होनी चाहिए।

अणुव्रत-आन्दोलन मानवीय एकता और जीवनकी पवित्रताके आधार-पर चल रहा है। जिस दिन मनुष्य-जाति यह अनुभव करने लगेगी कि कृत्रिम भेदोंके होनेपर भी हम सब एक हैं, समान अनुभूतिशील हैं उस दिन असदाचार अपने-आप समाप्त हो जायेगा। मैं चाहता हूँ यह भावना सब लोगों तक पहुँचे, उनमें अमेरिकावासी भी साथ हैं। मैं इस तथ्यको बहुत गहराईसे अनुभव करता हूँ कि अमेरिकी लोग बहुत स्वतन्त्रताप्रिय हैं। राष्ट्रपति कैनेडी एवं जॉनसनने स्वतन्त्रताके लिए अनेक प्रयत्न किये हैं और मनुष्य-जातिकी एकताके लिए भी उनके प्रयत्न बहुत मूल्यवान् हैं। निश्शस्त्रीकरणकी दिशामें भी अमेरिकी प्रयत्नोंका महत्त्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अमेरिकी राजदूत चेस्टर बोल्स, नॉर्मन ब्राउन आदि अनेक लोग मुझसे मिले हैं। मैंने उनमें हमेशा शान्ति, सद्भावना और समन्वयकी ओर झुकाव पाया है।

मैं अमेरिकावासियोंसे भी यही कहना चाहता हूँ कि वे एक सम्पन्न राष्ट्रके नागरिक हैं, उनके हाथमें सम्पदा, शक्ति और सरस्वती तीनोंका सुन्दर सुयोग है। इसलिए उनका हर प्रयत्न विश्व-शान्ति और सद्भावना-की वृद्धिके लिए होना चाहिए। मनुष्य-जातिके प्रति उनका जो दायित्व है, उसे उन्हें सदा स्मृतिमें रखना है।

अणुव्रत-आन्दोलनके साथ मैत्री-दिवस मनानेकी भी आयोजना हो। वह दिवस अन्तर्राष्ट्रीय स्तरपर मनाया जाये तो वर्तमान तनावको कम करनेका एक माध्यम बन सकता है।

मैंने अपने लिए जैन-धर्मकी साधना-पद्धतिको चुना है। वह मुझे इसलिए पसन्द है कि वह अपने-द्वारा आपपर विजय पानेका मार्ग है। इससे मनुष्यको अपने स्वतन्त्र अस्तित्व और कर्तृत्वमें विश्वास प्राप्त होता है।

जैन-धर्म अनेकान्त दृष्टिको बहुत महत्त्व देता है। उससे हमें बौद्धिक

आग्रहसे बचनेकी दृष्टि प्राप्त होती है। अनाग्रह सत्यके निकट पहुँचनेका सरलतम उपाय है।

अणुव्रत-आन्दोलनमें जो व्यापकता आयी है उसका श्रेय मुझे जैन-धर्मकी उदार विचार-धाराको देना चाहिए। हर व्यक्ति धर्म करनेका अधिकारी है और किसी भी सम्प्रदायमें रहनेवाला व्यक्ति धर्मकी आराधना कर सकता है। धर्म अहिंसा है, जैन या बौद्ध आदि नहीं। इस कोटिके विचारोंसे ही मुझे आन्दोलनके संचालनमें बल मिला है और मैं आशा करता हूँ कि हम सब समान ज्योतिसे प्रज्वलित हैं। अतः असमानताको दूर कर मानवकी मौलिक एकताको विकसित करेंगे।

■

उपासनाके सर्व-सामान्य सूत्र

जितने धर्म-सम्प्रदाय हैं, उतनी ही उपासनाकी विधियाँ हैं। अणुव्रत-आन्दोलन कोई धर्म-सम्प्रदाय नहीं है। यह धर्मकी सर्व-सामान्य भूमिका है। इसकी उपासना-विधि भी सर्व-सामान्य है। इसका उपास्य कोई व्यक्ति नहीं है। इसके उपास्य हैं व्रत। वे व्रत, जो जीवनकी विशृंखलताके लिए अंकुशका काम करते हैं। अणुव्रतोंका उपासना-मन्त्र है—'अहमेव मयोपास्यः'—अपने लिए मैं ही उपास्य हूं। इसके उपासना-सूत्र हैं—१. आत्म-चिन्तन, २. आत्म-निरीक्षण, ३. क्षमा-याचना, ४. खाद्य-संयम या उपवास, ५. आलोचना या प्रायश्चित्त।

बुद्धिवादी युग है। चिन्तनकी कोई कमी नहीं। पर वह होता है पदार्थको समझनेके लिए, उसे बदलनेके लिए, जब कि होना चाहिए, अपने-आपको समझनेके लिए। जो केवल दूसरोंके बारेमें सोचता है, वह दूसरोंकी उपासना करता है, अपनी नहीं।

उपासनाका अर्थ सिमट गया है। आज अधिकांशमें पूजा और अर्चना ही उपासना बन गयी है। उपासनाका क्षेत्र धर्म-स्थान ही रह गया है। वासनाको नष्ट करनेकी उपासना नगण्य-सी है। इसीमें-से प्रश्न होता है—

'धर्म केवल उपासनाका तत्त्व क्यों बना?
जब कि जीवनमें वासनाका तत्त्व है छना।'

किसी व्यक्ति या इष्टकी अर्चनाका महत्त्व तभी हो सकता है, जब हम उसकी आज्ञाका पालन करें। उसकी कोरी अर्चनाका क्या मूल्य है? आचार्यने कहा—वीतराग! तुम्हारी अर्चनाकी अपेक्षा तुम्हारी आज्ञाका पालन अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसकी आराधना कल्याणके लिए होती है

और उसकी विराधना अकल्याणके लिए। तुम्हारी आज्ञा यही है कि हेय-को त्यागा जाये और उपादेयको अंगीकार किया जाये।

हेयका ज्ञान ही कैसे हो, जब आत्म-निरीक्षण नहीं होता। मनुष्य जितना करता है, वह सब उपादेय नहीं है और जो नहीं करता, वह सब हेय नहीं है। इसका विवेक आत्म-निरीक्षणसे ही मिल सकता है। मैंने क्या किया, मुझे क्या करना है और वह क्या कार्य है जो मैं कर सकता हूँ, पर नहीं कर रहा हूँ—इस विशाल दृष्टिसे जो अपनेको देखता है, वही चक्षुमान् उपासक है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जिससे कभी भूल न हो। मनुष्य मोहमें फँसा हुआ होता है, वह किसीको प्रिय मानता है किसीको अप्रिय। किसीको प्रिय या अप्रिय माननेका अर्थ है—मानसिक विकासकी अपूर्णता। परिपूर्णताकी स्थितिमें भूल नहीं होती, पर अपूर्णतामें भूल होना बहुत सम्भव है। जो आत्म-निरीक्षण नहीं करता, वह दूसरोंकी भूलको देखनेमें बहुत ही सूक्ष्म-दृष्टि होता है, और सिद्धहस्त होता है अपनी भूलोंके साथ आँख-मिचौनी खेलनेमें। अपनी भूलोंकी अनुभूति उसीको होती है, जिसमें अपने-आपको देखनेकी क्षमता हो। जिसे अपनी भूलोंकी अनुभूति ही न हो, वह उनकी आलोचना क्या करेगा? जो अपनी आलोचना करता है, उसे दूसरोंकी आलोचना करनेमें बहुत कम रस रहता है या नहीं भी रहता। अपने लिए असद् व्यवहारको जो समझ लेता है, वह उसके लिए क्षमा माँग सकता है। क्षमा माँगना सचमुच ही अमृतकी धार बहाना है। इससे विष ही नहीं धुलता, मैत्रीका महान् प्रवाह भी चल पड़ता है। इसी व्रतकी उपासनाके लिए अणुव्रत-आन्दोलन-के साथ मैत्री-दिवस जुड़ा हुआ है। मैत्री और अहिंसा कोई दो तत्त्व नहीं हैं। मैत्रीके बिना अहिंसा नहीं होती और अहिंसाके बिना मैत्रीका कोई अर्थ नहीं होता। अहिंसा-दिवस भी अणुव्रत-आन्दोलनका एक अंग है।

इन सारे उपासना-सूत्रोंका आशय है – आत्माका सान्निध्य प्राप्त करना। आत्मा सबमें है, फिर भी आत्मवान् बहुत थोड़े होते हैं। जिसमें

संयम नहीं होता, वह आत्मवान् नहीं होता। मनुष्यके जीवनका प्रधान अंग आत्मा है, फिर भी उसके समीप रहनेका अवसर बहुत ही कम मिलता है। अधिकांशतः वह बाहरी प्रदेशोंमें रहता है। ये इन्द्रियाँ सदा खुली रहनेवाली खिड़कियाँ हैं। इनमें-से मन बाहरकी ओर झाँकता रहता है। आत्मामें क्या है? कितना है? और कैसा है? इसका उसे पता ही नहीं। हो भी कैसे? जो जिसके समीप ही नहीं आता, वह उसे कैसे पहचाने? अपनी पहचान सम्भवतः सबसे कठिन है। उसका साधन है – संयम। व्रत और क्या है? संयमकी उपासना हो तो व्रत है। जिसमें संयम नहीं, उसकी अर्चना छलना हो जाती है। छलना इसलिए कि वह पूजा करता है भगवान्‌की और कार्य करता है भगवान्‌से दूर रहनेका। वह पूजाके समय तो भगवान्‌में लीन हो जाता है और उससे उठते ही वह ऐसा कार्य करता है जिसका आचरण कर कोई आदमी भगवान् नहीं बन सकता। भगवान्‌के आदेशोंका उल्लंघन करे और भगवान्‌की गुण-गाथा गाकर उन्हें प्रसन्न करना चाहे – यह कैसी समझ है! एक पुत्र पिताकी गुण-गाथा गाये या न गाये, यह कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वह पिताकी बात मानता है या नहीं। पिताका कहा नहीं करता तो गुण-गाथा गानेसे ही क्या होगा? और उसका कहा करता है तो गुण-गाथा न गाकर भी वह सफल है। सफलताकी कसौटी भक्ति ही नहीं है। जबतक जीवनमें संयम विकसित नहीं होता, तबतक कोई व्यक्ति भक्त बनता ही नहीं। अपेक्षा यह है कि आदमी संयमी बने। भक्ति, ज्ञान आदि उसके प्रेरक हैं। प्रेरणा-स्रोतके बारेमें कोई मतभेद नहीं होना चाहिए। मूल बात है प्रेर्य-तत्त्वकी। वह संयम है। लोगोंने भक्ति या प्रेरक-तत्त्वोंको इस रूपमें पकड़ा है कि उसमें प्रेर्य-तत्त्व दृष्टिसे ओझल-सा हो गया है। मैं चाहता हूँ कि लोग आत्म-निरीक्षण करें, चिन्तन करें और प्रेरक-तत्त्वोंको प्रेर्य-तत्त्वका स्थान दें।

■

जीवन और धर्म

जैन-धर्मके दो सिद्धान्तोंने मेरे जीवनको बहुत प्रभावित किया है। उनमें एक है समतावाद और दूसरा है स्याद्वाद।

समताके सिद्धान्तसे मुझे यह दृष्टि प्राप्त हुई है कि मैं सब जीवोंको समानताकी दृष्टिसे देखूँ।

मैं उन्हें समानताकी दृष्टिसे तभी देख सकता हूँ, जब मैं हर परिस्थितिमें सम (मध्यस्थ या तटस्थ) रहूँ। जिसकी चिन्तन-धारा विषम है, वह सबके प्रति समानताकी अनुभूति नहीं कर सकता।

मैं अपनी बुद्धि और विवेकको मानसिक असन्तुलन उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियों – लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, संयोग-वियोग आदिसे अलग रखकर ही समानताकी अनुभूति करनेका अधिकार पा सकता हूँ।

मैं धर्ममें विश्वास करता हूँ। मैं उसे किसी नामसे नहीं बाँधता। फिर भी आप जानना चाहेंगे, अतः मैं कहूँ कि मैं जैन-धर्ममें विश्वास करता हूँ। मैं उस जैन धर्ममें विश्वास करता हूँ, जिसके सिद्धान्तानुसार आत्माका पवित्र आचार-विचार या आत्म-विजय ही धर्म है।

स्याद्वादसे मैं यह सीख पाया हूँ कि सत्य उसी व्यक्तिको प्राप्त होता है जिसके मनमें अपनी मान्यताओंका आग्रह नहीं है। जो लोग भौगोलिक, जातीय, साम्प्रदायिक आदि भेदोंकी दीवारोंके पार तक नहीं देख सकते, उन्हें सत्य उपलब्ध नहीं होता।

समता और स्याद्वादके सिद्धान्त जितने आन्तरिक हैं, उतने ही हमारे व्यवहारमें उपयोगी हैं।

मैं आत्मामें विश्वास करता हूँ। जो आत्माको मानता है, वह पर-

लोकको भी मानता है। हमारे वर्तमान व्यवहार ही परलोककी अच्छी या बुरी स्थितिके निमित्त बनते हैं। अच्छे कर्मका अच्छा फल होता है और बुरे कर्मका बुरा फल। अपना किया हुआ कर्म अवश्य भोगना पड़ता है चाहे इस जन्ममें, चाहे अगले जन्ममें। इन मान्यताओंसे वर्तमान व्यवहार अवश्य प्रभावित होते हैं।

मैं आदर्शको बहुत महत्त्व देता हूं। हमारे सामने जैसा आदर्श होता है, वैसे ही हम बनते हैं। मैं वीतराग धर्ममें विश्वास करता हूं। अतः मेरे आदर्श वीतराग हैं। वे एक दिन आप-हम-जैसे ही मनुष्य थे। उन्होंने वीतरागताकी साधनाका प्रयत्न किया और वे वीतराग बन गये। उन साधनाओंको मैं अपने जीवनमें व्याप्त करनेका प्रयत्न करता रहता हूं।

हमारे धर्म-ग्रन्थ वीतरागको परम आत्मा मानते हैं। यह आत्माकी सर्वोच्च अवस्था है।

मैं वीतरागता या आत्म-विजयमें विश्वास करता हूं, इसलिए धर्मको विभक्त नहीं करता, – यह तेरा धर्म है, यह मेरा धर्म है – ऐसा नहीं मानता। ये जितने नाम-धारी धर्म हैं, उन्हें मैं सम्प्रदाय मानता हूं। उनके प्रति मुझे सद्भावना और सहिष्णुताका दृष्टिकोण पसन्द है। मैं इसे क़तई पसन्द नहीं करता कि एक आदमी धार्मिक भी हो और दूसरोंके प्रति असहिष्णु भी हो! मेरी दृष्टिमें धर्मकी पहली सीढ़ी यही है कि हम सब सहिष्णु हों।

■

अणुव्रत-आन्दोलन

शक्तिका अस्तित्व अपना है, समाजका अस्तित्व व्यक्ति है। व्यक्ति वस्तुवाद है और समाज सुविधावाद। जब व्यक्तिकी आवश्यकता अपने-आप पूरी नहीं हुई तब सापेक्ष स्थितिका उद्गम हुआ। सापेक्षताने समाजको जन्म दिया। समाजका आधार है 'परस्परोपग्रह'। 'एक पदार्थका दूसरे पदार्थके प्रति उपकार'का सिद्धान्त जितना वास्तविक है उतना ही व्यावहारिक भी है। जैन-दर्शनने विश्व-स्थितिकी मौलिक समस्या—जड़-चेतनके सम्बन्धकी समस्याको सुलझानेके लिए इसका उपयोग किया। पदार्थवादके अनुसार जैसे विश्व-संगठनका हेतु जीव और पुद्गलका परस्पर उपग्रह है वैसे ही समाजशास्त्रके अनुसार समाज-संगठनका हेतु पारस्परिक सहयोग है। समाजकी सहयोगी व्यवस्था और सापेक्ष स्थितिमे बँधकर व्यक्ति व्यक्ति नहीं रहता, वह आदान-प्रदानका केन्द्र-बिन्दु बन जाता है।

जबतक व्यक्ति व्यक्ति रहता है तबतक उसके सामने महत्त्वाकांक्षी, महत्त्वाकांक्षाकी पूर्तिके लिए परिग्रह या संग्रह, संग्रहके लिए शोषण या अपहरण, शोषणके लिए बौद्धिक या कायिक शक्तिका विकास बौद्धिक और दैहिक शक्ति-संग्रहके लिए विद्याकी दुरभिसन्धि, स्पर्धा आदि-आदि समस्याएं नहीं होतीं। समाजमें प्रवेश पाकर व्यक्ति ज्यों-ज्यों अपनी दुर्बलताका प्रतिकार पाता है, त्यों-त्यों महत्त्वाकांक्षा और स्पर्धा उसे शक्ति-संग्रहके लिए प्रेरित करने लग जाती हैं। महत्त्वाकांक्षा शोषणको जन्म देती है और शोषण अव्यवस्थाको। अव्यवस्थामें समाजका ढांचा डांवाडोल हो जाता है और तब उसकी पुनर्व्यवस्थाके लिए दण्डनीति,

अनुशासन और न्याय जन्म लते हैं।

व्यक्तिगत जीवनमें मर्यादाहीनताका प्रश्न नहीं उठता। सामाजिक जीवनमें मर्यादाहीनता आती है, किन्तु समाज उसे सहन नहीं कर सकता। इसलिए समाज धर्म-संहिता और दण्ड-विधान बनाता है। समाजका प्रत्येक सदस्य उसके अनुसार चलनेके लिए बाध्य होता है। समाजकी व्यवस्थाके लिए समाज-व्रत या समाज-मर्यादाके पीछे रहनेवाली राज्य शक्ति और शक्तिसे नियन्त्रित व्यक्ति उच्छृंखल नहीं हो सकता।

मनुष्य जातिका ऊर्ध्वमुखी विराट् चिन्तन आगे बढ़ा। दार्शनिक चिन्तनका विकास हुआ। पूर्व-जन्म और पुनर्जन्मका तत्त्व उसने समझा। इहलोककी सीमासे परे परलोकको उसने जाना। इस दशामें पहुँचकर फिर वह व्यक्तिवादी बना और इस भूमिकामें निरपेक्ष जीवन-पद्धतिका विकास हुआ। समाजकी मर्यादा इस भूमिकामें अमर्यादा बन गयी। समाज जिस हिंसाको क्षम्य मानता है, वह यहाँ अक्षम्य बन जाती है। समाज जिस संग्रहको न्याय मानता है, वह यहाँ अन्याय बन जाता है। समाज जिस भोग-विलासको वैध मानता है, वह यहाँ अवैध बन जाता है। इस भूमिकामें मर्यादाका नया स्रोत चला। उसीके नाम हैं — व्रत, नियम, यम, शील, शिक्षा या संयम।

कई विचारक ऐसा मानते हैं कि धर्म समाज-नियमनके लिए चला। किन्तु यह सत्यसे परे है। धर्मका उद्गम आत्माके अस्तित्वसे हुआ। आत्म-शोधनकी प्रक्रियाके रूपमें उसका विकास हुआ। मोक्ष-प्राप्ति, आत्म-शुद्धि या आत्म-नियमनके लिए उसका व्यवहार हुआ। मुनि चारित्र-ग्रहणके समय प्रतिज्ञा करता है कि मैं आत्म-हितके लिए पाँच महाव्रतोंको स्वीकार कर विहार करूँगा। व्रतका साध्य है आत्म-मुक्ति। प्रासंगिक फलके रूपमें समाजका नियमन भी होता है। किन्तु वह धर्मका अनन्तर फल नहीं। ऐहिक और पारलौकिक आत्मसिद्धिके लिए धर्म करना विहित नहीं है। धर्म परलोकके लिए है, यह धारणा भी सदोष

है। आत्महितकी दृष्टिसे वह इहलोक और परलोक दोनोंमें श्रेयस्कर है।

भारतीय चिन्तनकी मुख्य धारा चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्षकी ओर बही। शब्दशास्त्र व प्रमाणशास्त्रका चरम उद्देश्य मोक्ष रहा, इसमें कोई आश्चर्य नहीं; किन्तु कामशास्त्रमें भी जीवनका चरम उद्देश्य मोक्ष बतलाया गया है। उपनिषदोंने प्रेयस्को बन्धन और श्रेयस्को मुक्ति माना है। प्रेयस् जीवनकी अनिवार्यता है, फिर भी उसमें अनासक्ति होनी चाहिए। कारण यह कि श्रेयस्की जो गति है, उसमें प्रेयस् बाधक न बने। जैन-दृष्टिके अनुसार आत्म-मुक्तिकी प्रक्रियाके दो तत्त्व हैं – संवर और निर्जरा। संवर निवृत्ति है और निर्जरा निवृत्ति-संवलित प्रवृत्ति; संवर निरोध है और निर्जरा शोधन। यह व्यक्तिकी सहज मर्यादा है। इससे यह फलित होता है कि धर्म व्यक्तिके आत्म-नियमनका साधन है। इसे समाजके आपसी सम्बन्धोंके नियमनका जो साधन बताया जाता है, वह आत्मवादी मानसकी कल्पना है।

महाव्रत और अणुव्रत

भारतीय जीवनमें व्रती जीवनका सर्वोच्च और गौरवपूर्ण स्थान है। यहाँ धन, ऐश्वर्य, भोग-विलास और दानसे कोई बड़ा नहीं बना। नमि राजर्षि राज्य-वैभव और भोग-विलासको ठुकराकर निर्ग्रन्थ बने। इन्द्रने उनसे कहा – आप दान दें, भोग करें और फिर दीक्षा लें। राजर्षि बोले – जो व्यक्ति प्रतिमास दस लाख गायोंका दान करता है, उसकी अपेक्षा कुछ दान न करता हुआ भी संयमी श्रेष्ठ है।

भारतीय परम्परामें महान् वह है जो त्यागी है। यहाँका साहित्य त्यागके आदर्शोंका साहित्य है। जीवनके चरम भागमें निर्ग्रन्थ या संन्यासी बन जाना तो सहज वृत्ति है ही, किन्तु जीवनके आदि भागमें भी प्रव्रज्या आदेय मानी जाती रही है। त्यागपूर्ण जीवन महाव्रतकी भूमिका या निर्ग्रन्थ वृत्ति है, यह निरपवाद संयम मार्ग है। इसके लिए अत्यन्त

विरक्तिकी अपेक्षा है। जो व्यक्ति अत्यन्त विरक्ति और अत्यन्त अविरक्तिके बीचकी स्थितिमें होता है, वह अणुव्रती बनता है। आनन्द गाथापति भगवान् महावीरसे प्रार्थना करता है — भगवन्! आपके पास बहुत सारे व्यक्ति निर्ग्रन्थ बनते हैं, किन्तु मुझमें ऐसी शक्ति नहीं कि मैं निर्ग्रन्थ बनूं। इसलिए मैं आपके पास पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत — द्वादश व्रतात्मक गृहीधर्म स्वीकार करूंगा। यहाँ शक्तिका अर्थ है — विरक्ति। जिसमें संसारके प्रति, पदार्थोंके प्रति, भोग-उपभोगके प्रति विरक्तिका प्राबल्य होता है, वह निर्ग्रन्थ बन सकता है। अहिंसा और अपरिग्रहका महान् व्रत उसका जीवन-धर्म बन जाता है। यह सबके लिए सम्भव नहीं, व्रतका अणु रूप मध्यम मार्ग है। अव्रती-जीवन शोषण और हिंसाका प्रतीक होता है और अणुव्रती-जीवन संयम और असंयम, सत्य और असत्य, अहिंसा और हिंसा, अपरिग्रह और परिग्रहका मिश्रण नहीं, अपितु जीवनकी न्यूनतम मर्यादाका स्वीकरण है।

अणुव्रत-विभाग

अणुव्रत पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य या स्वदारसन्तोष और अपरिग्रह या इच्छा-परिमाण।

अहिंसा : अहिंसा रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियोंका निरोध या राग-द्वेष-रहित प्रवृत्ति है।

पहला निषेधात्मक पक्ष है और दूसरा विधेयात्मक। निषेधात्मक भावी-शुद्धिके लिए है और भूत-शुद्धिके लिए विधेयात्मक। वर्तमान शुद्धि दोनोंमें है।

अनिवार्य-हिंसा या अर्थ-हिंसा जीवनकी अशक्यताका पक्ष है। अनर्थ-हिंसा प्रमादवश होती है। मनुष्य जितनी कायिक हिंसा नहीं करता, उतनी मानसिक करता है। स्व-पर, बड़ा-छोटा, अस्पृश्य-स्पृश्य, शत्रु-मित्र आदि अनेक कल्पनाके बन्धनोंमें फँसकर मनुष्य इतना उलझा रहता

है कि वह मानसिक हिंसासे सहज ही मुक्ति नहीं पा सकता। अहिंसा अणुव्रतका तात्पर्य है अनर्थ-हिंसासे अथवा अनावश्यक, केवल प्रमादजन्य या अज्ञानजनित हिंसासे बचना।

सत्य : सत्य, अहिंसाका वचनात्मक या भाव-प्रकाशनात्मक पहलू है। हास्य अथवा कुतूहलवश अयथार्थ बोलना भी असत्य है। यह उसका सूक्ष्म रूप है। यदि कोई इससे न बच सके तो कमसे कम स्थूल असत्यसे तो उसे अवश्य बचना चाहिए। जिस वाणी या भावाभिव्यंजनाके पीछे बुरे विचारोंका जाल बिछा रहता है, वह स्थूल असत्य है। सत्य अणुव्रतमें ऐसे असत्यका त्याग आवश्यक होता है।

अचौर्य : अचौर्य अहिंसात्मक अधिकारोंकी व्याख्या है। पर-वस्तु-हरण चौर्य है। वह हिंसाका अधिकार है। मनुष्य समाजके आपसी सम्बन्ध अधिकतर स्तेय-वृत्तिके उपजीवी हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति-का शोषण करता है, वह उसे अपने अधिकारमें लेता है, उसे दास बनाता है, उससे आदेश मनवाता है तथा उसका स्वत्व छीनता है। यह सब स्तेय-वृत्ति है। सूक्ष्म दृष्टिसे दूसरेका एक तिनका भी उसकी अनुमतिके बिना लेना स्तेय है। अचौर्य अणुव्रतकी मर्यादा है — जीवनके आवश्यक मूल्यों-का अपहरण न करना।

ब्रह्मचर्य : ब्रह्मचर्य अहिंसाका स्वात्मरक्षणात्मक पक्ष है। पूर्ण ब्रह्मचारी न बन सकनेकी स्थितिमें विवाहित पत्नीके अतिरिक्त अब्रह्मचर्यका परित्याग करना और पत्नीके साथ भोगकी सीमा करना चतुर्थ अणुव्रत है।

अपरिग्रह : यह अहिंसाका परपदार्थनिरपेक्ष रूप है। गृहस्थका जीवन अपरिग्रही बन नहीं सकता। इसलिए अपरिग्रह अणुव्रतका अर्थ है — इच्छाका परिमाण। परिग्रहका नियन्त्रण सामाजिक नियमोंसे हो सकता है, किन्तु उससे इच्छाका नियन्त्रण नहीं होता। व्रत वह है जिसमें इच्छाके नियन्त्रणके द्वारा परिग्रहका नियन्त्रण हो।

अणुव्रतके अनुकूल वातावरण

व्रतोंकी उपादेयतामें कोई दो मत नहीं है। मतद्वैध है व्रतोंकी उपयोगितामें। आत्म-विरक्तिसे स्वनियमन करनेवाले विरले ही होते हैं। अधिकांश व्यक्ति तबतक हिंसा और परिग्रहको नहीं छोड़ते, जबतक वे वैसा करनेके लिए बाध्य नहीं किये जाते। व्रत हृदय-परिवर्तनका फल हैं। जन-साधारणका हृदय उपदेशात्मक पद्धतिसे परिवर्तित नहीं होता। इसलिए समाजकी दुर्व्यवस्थाको बदलनेके लिए व्रतोंकी कोई उपयोगिता नहीं। लगभग स्थिति ऐसी ही है। ऐसी क्यों है, यह चिन्तनीय विषय है। इस चिन्तनके परिणामस्वरूप दो-तीन बातें हमारे सामने आती हैं। पहली बात तो यह है कि व्रतोंकी रचना समाजकी आर्थिक दुर्व्यवस्थाको मिटानेके लिए नहीं हुई है। उनकी रचना हुई है उसकी आत्मिक दुर्व्यवस्थाको मिटानेके लिए। आत्मिक दुर्व्यवस्थाके मिटते ही आर्थिक दुर्व्यवस्था भी मिटती है, किन्तु व्रताचरणका यह गौण फल है। आत्मिक दुर्व्यवस्थाकी परिसमाप्तिका एकमात्र साधन हृदय-परिवर्तन है। जब व्यक्तिका हृदय बदलता है तो उससे आत्मिक दुर्व्यवस्थाका अन्त होता है। उससे समाजकी दुर्व्यवस्था भी मिटती है।

क़ानूनके पीछे ऐसी शक्ति है कि मनुष्य उसका उल्लंघन नहीं कर सकता और यदि वह करता भी है तो उसे उसका फल भुगतना पड़ता है। व्रतोंके पीछे ऐसा वातावरण नहीं है। उनका आचरण इच्छा-प्रेरित होता है।

दूसरी बात यह है कि मनुष्यकी आन्तरिक वृत्तियाँ राग-द्वेषात्मक होती हैं। इनके फलस्वरूप व्यक्तिमें अप्रिय वस्तु-स्थितिके प्रति असहिष्णु वृत्ति, अपनेको सर्वोच्च माननेकी वृत्ति, दूसरोंको ठगनेकी वृत्ति और संग्रहकी वृत्ति, ये चार मुख्य वृत्तियाँ होती हैं। यदि समाजका वातावरण और आसपासकी स्थितियाँ इनके अनुकूल होती हैं, तो इन्हें उत्तेजना

मिलती है और इनका कार्य तीव्र हो चलता है। बाहरी साधनकी प्रतिकूल दशामें ये वृत्तियाँ दबी रहती हैं कि समाजकी अपेक्षा इतनी ही है कि ये दबी ही रहें। अध्यात्मकी भूमिका और उसकी अपेक्षा है कि इनका मूलोच्छेद हो। जिनकी आत्मा उद्‌बुद्ध हो जाती है, वे पारिपार्श्विक स्थितियोंपर विजय पाकर उनका मूलोच्छेद कर डालते हैं। किन्तु सर्वसाधारणकी स्थिति ऐसी नहीं होती। समाजकी भोगवादी मनोवृत्ति उन्हें उकसाती है। यही कारण है कि सर्वसाधारणको व्रत-पालनकी सहज प्रेरणा नहीं मिलती। तीसरी बात यह है कि व्रत लेनेवाले व्रतोंके कलेवरकी सुरक्षा करते हैं पर उनकी आत्माको नहीं छूते। वे व्रतोंको अपने जीवनमें लाते हैं, किन्तु जीवनको उनके आदर्शोंपर नहीं ढालते। इसपर पुनर्विचार करना होगा कि अणुव्रती जीवनका आदर्श क्या और कैसा होना चाहिए ?

अणुव्रती जीवनका आदर्श

अणुव्रती जीवनका आदर्श है परिग्रह और आरम्भका अल्पीकरण। भोगवादसे महारम्भ और महापरिग्रहका जन्म होता है। अणुव्रतीको महेच्छ और महारम्भ नहीं होना चाहिए। महारम्भका हेतु महान् इच्छा है। इच्छा जब स्वल्प होती है तब हिंसा अपने-आप स्वल्प हो जाती है। यदि आरम्भ आवश्यकताके सहारे चलता है, तो वह असीम नहीं बनता। जब उसकी गति इच्छाके अधीन हो जाती है, तभी वह सीमित बनता है। पूंजी और उद्योगका केन्द्रीकरण आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए नहीं, अपितु इच्छाकी पूर्तिके लिए होता है। अणुव्रती आदर्शके अनुसार इनका अपने-आप विकेन्द्रीकरण हो जाता है। अणुव्रती दूसरेके श्रम और श्रमफलको न छीने, तभी वह अहिंसा और अशोषणके आदर्शपर चल सकता है। जब दूसरेके श्रमको छीननेकी वृत्ति टूटती है, तब अपने-आप उसका जीवन आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी और श्रमपूर्ण बन जाता है। जो व्यक्ति अपने

श्रमपर निर्भर रहता है, वह कभी महारम्भी और महापरिग्रही नहीं बनता। महारम्भ व महापरिग्रहकी परिभाषा समझनेमें भूल हो रही है। उसपर फिर विचार करनेकी आवश्यकता है। सामान्यतया थोड़ो-बहुत प्रत्यक्ष हिंसाके कार्यको लोग महारम्भ मान लेते हैं। वे परोक्ष हिंसाकी ओर ध्यान नहीं देते। खेतीमें जीव मरते हैं, इसलिए वह आरम्भका धन्धा लगता है, किन्तु कूट माप-तोलमें प्रत्यक्ष हिंसा नहीं दीखती; इसलिए वह महारम्भ नहीं लगता। महारम्भ और महापरिग्रह नरकके कारण हैं। कारण साफ़ है उनसे आर्त-रौद्र ध्यान बढ़ता है, उससे आत्म-गुणोंका घात होता है तथा आत्माका अधःपतन होता है। आचार्य जिनसेनने व्याज लेकर आजीविका करनेको आर्त-रौद्र ध्यानका चिह्न माना है। विषय संरक्षण रौद्र ध्यान है। इसका अर्थ है कि विषय और धनकी प्राप्ति और उसके संरक्षणके लिए चिन्ता करना। धार्मिक समाजमें भी मानसिक हिंसाका प्राबल्य इसलिए हो गया कि उसमें प्रत्यक्ष हिंसा नहीं दीखती। यदि प्रत्यक्ष हिंसाकी भाँति परोक्ष हिंसासे भी घृणा होती तो जीवन इतना असत्य-निष्ठ और अप्रामाणिक नहीं बनता।

वृत्तियोंकी अप्रामाणिकताका हेतु महापरिग्रह है। महापरिग्रहके लिए महासावद्य उपाय प्रयोजनीय होते हैं। अणुव्रती अल्पपरिग्रही होता है। इसलिए उसके जीवन-उपाय अल्पसावद्य होते हैं। इसीलिए उसे 'अल्पसावद्यकर्मार्य' कहा जाता है। 'अल्पसावद्यकर्मार्य' के सामने अप्रामाणिक बननेकी स्थिति ही नहीं आती। अणुव्रतीकी जीवन-वृत्ति संग्रहोन्मुख नहीं होती। यहाँ कला या कर्मका आलम्बन इसलिए होता है कि उसकी जीवनवृत्ति सुखपूर्वक चले। जब श्रमके द्वारा जीविकाका सुखपूर्वक निर्वाह नहीं होता है, तभी चोरी आदि कुवृत्तियाँ बढ़ती हैं। जटिल परिस्थितियाँ मनुष्यको बुरा बनानेकी प्रेरणा देती हैं। इसलिए समाज उन्हें सरस बनानेकी बात सोचता है। अन्य स्थितियोंकी अपेक्षा इच्छाकी अनियन्त्रित दशा अधिक जटिल स्थिति है। अणुव्रतीको उसपर अधिक

ध्यान देनेकी अपेक्षा होती है ।

संक्षेपमें अणुव्रतीका जीवन आदर्श है — इच्छा परिमाण, आरम्भ परिमाण । इस आदर्शको निभानेके लिए अणुव्रतीको बड़प्पन व कल्पना-लब्ध झूठे आदर्शोंपर प्रहार करना होगा । श्रमको नीचा माननेकी भावना, वृत्तिके आधारपर ऊँच-नीचकी कल्पना, धनके आधारपर बड़े-छोटेकी कल्पना आदिको तोड़ना तथा जीवनके मापदण्डोंको बदलना होगा । जबतक जीवनके मूल्य न बदलें, राजसी धारामें अन्तर न आयें, तबतक अणुव्रत जीवन-प्रेरक नहीं बनते । अणुव्रतीके लिए सादगीके लिए आडम्बरोंका और नम्रताके लिए मिथ्याभिमानका बलिदान करना होगा ।

व्यक्तिवादी मनोवृत्ति

भारतीय जीवनमें व्यक्तिवादी मनोवृत्तिका प्राबल्य है । अध्यात्म-वादी धारामें व्यक्तिका विशेष महत्त्व बढ़ता है । संयमके क्षेत्रमें यह आवश्यक है । जब समाज संयमी नहीं बनता तब मैं क्यों बनूँ, यह मनः-स्थिति संयमके स्वीकरणमें बाधक बनती है । समाज संयमी न बने तो भी व्यक्तिको संयमी बनना चाहिए । संयम समाजका क़ानून नहीं, वह तो व्यक्तिकी स्व-मर्यादा है ।

जहाँ सामाजिक रीतिक्रम समाज नहीं करता, वहाँ यदि अकेला व्यक्ति अपना विशेषत्व दिखाता है, तो वह स्थिति समाजके लिए घातक बनती है । व्यक्तिको उच्छृंखलता समाजकी मनोवृत्तिको उभारनेका निमित्त बनती है ।

अध्यात्मकी धारा यह नहीं है कि व्यक्ति असंयममें व्यक्तिवादी रहे । उसकी अपेक्षा है, व्यक्ति संयम साधनाके लिए व्यक्तिवादी रहे । यह व्यक्तिवाद जो संयमसे निखरता है, समाज या राष्ट्रके लिए घातक नहीं बनता ।

धर्म समाजको व्यक्तिवादी दृष्टिकोण देता है, यह कहनेवाले उसकी

सीमाको दृष्टिसे ओझल किये देते हैं। सही अर्थमें व्यक्तिवादी दृष्टिकोण बननेका प्रधान कारण सामन्तशाही है। भोगवादी मनोवृत्ति, संग्रहवादी मनोवृत्ति, व्यक्तिवादी मनोवृत्ति और परिवारवादी मनोवृत्ति सामन्तशाही-के निश्चित परिणाम हैं। भारत धर्मका मुख्य उद्गम स्रोत रहा है। इस दृष्टिसे भले ही वह धर्मप्रधान कहलाये। धर्माचरणकी दृष्टिसे धर्म-प्रधान कहलानेकी क्षमता कमसे कम आज तो उसमें नहीं है। सौभाग्यसे व्रतोंकी दृष्टि अब भी सुरक्षित है। यदि उनका जीवनमें प्रयोग बढ़ा, व्यक्तिवादो मनोवृत्ति भोग, असंयम और अहम् पोषणसे हटकर संयमकी ओर मुड़ी तो अवश्य ही अनैतिकताकी बाढ़ रुकेगी।

अणुव्रत-आन्दोलन

अणुव्रत स्वयंसिद्ध शक्ति है। भोगवादकी एकच्छत्र शक्तिके प्रतिरोध-के लिए वही सफल साधन है। अपेक्षा यह है कि वह शक्ति संगठित बने। असंयुक्त दशामें दो नौ के अंकोंका जोड़ अठारह होता है। संयुक्त दशामें वही 'निन्यानबे' हो जाता है। संयुक्त स्थितिका लाभ उठानेके लिए अणुव्रत आन्दोलनका प्रसार कर व्रतशक्तिको संगठित करनेका प्रयत्न किया जाये।

स्थापना

अणुव्रत आन्दोलनका प्रवर्तन विक्रम सं० २००५ की फाल्गुन शुक्ल २ को सरदार शहर (राजस्थान) में हुआ। पहले दिन लगभग अस्सी अणुव्रती बने। आजकी भाषामें प्रगति व विकासका मापदण्ड पदार्थ-विस्तार है। जड़वादी युगके पदार्थपरक विकासके सामने चैतन्य विकास-का जो प्रतिरोध अपेक्षित था उस दिशामें अणुव्रत आन्दोलन सफल क़दम प्रमाणित हुआ है।

ह्रास या विकास

मनुष्यकी बाहरी स्थितियाँ विकसित हुईं यह जितना सत्य है उतना

4082

ही सत्य यह भी है कि उसकी आन्तरिक वृत्तियाँ मन्द पड़ गयी हैं। तन्दुल वेयालियमें अवसर्पिणी युगके मनुष्यकी अन्तर्वृत्ति और व्यवहारके अवसर्पणका चित्र खींचते हुए लिखा है – "मनुष्यकी क्रोध, मान, माया और लोभकी वृत्तियाँ क्रमशः बढ़ेंगी। माप-तोलके अप्रामाणिक उपकरण बढ़ेंगे, तुलाका वैषम्य, मानका वैषम्य, राजकुलका वैषम्य तथा वर्षा आदिके वैषम्य इस प्रकार बढ़ेंगे कि धान्य बलहीन हो जायेगा, उससे मनुष्योंकी आयु कम होगी।"

ज्यों-ज्यों आन्तरिक वृत्तियोंका विकार बढ़ता है, त्यों-त्यों स्थितियाँ जटिल बनती जाती हैं। रोग मूल अन्तरका क्षय है। मनुष्य बाहरी विकारोंसे चुँधिया गया है। वह अभी इस प्रश्नवाचक-चिह्नका उत्तर नहीं पा सका है कि वर्तमान युग विकासका युग है या ह्रासका।

उद्देश्य

अणुव्रत आन्दोलनके प्रवर्तनका उद्देश्य है जीवनके मूल्योंको बदलना। यह कार्य सरल नहीं है। यह एक प्रकाशकी रेखा अवश्य है। युद्ध और शीत-युद्धके थपेड़ों और अस्त्र-शस्त्रोंकी स्पर्धासे मनुष्य जर्जर बन गया है। उसके सामने आन्तरिक वृत्तियोंको पवित्र बनानेके सिवाय दूसरा विकल्प नहीं रहा है। अब दीख रहा है कि आन्तरिक वृत्तियाँ यदि यों ही चलीं तो प्रलय दूर नहीं है। इस आन्दोलनकी ये अपेक्षाएँ हैं – मनुष्य शस्त्र-निष्ठ न बनकर अहिंसा-निष्ठ बने। वह भौतिक विकासको मुख्य न मानकर आध्यात्मिक चेतनाको जगाये। भोगी न बनकर वह व्रती बने। 'स्टैण्डर्ड ऑव लिविंग'को गौण मानकर 'स्टैण्डर्ड ऑव लाइफ़'को ऊँचा उठाये। एक शब्दमें आन्तरिक साम्यको शक्तिशाली बनाकर वह वैषम्यका अन्त करे।

प्रगतिकी ओर

अणुव्रत-आन्दोलन क्रमशः प्रगतिकी ओर बढ़ रहा है। अणुव्रतियोंकी

संख्या अधिक नहीं हुई है। यद्यपि संख्याकी दृष्टिसे यह कोई ज्यादा प्रगति नहीं है फिर भी भोगवादके विरुद्ध संयमकी ध्वनिका बल बढ़ रहा है। जनताका दृष्टिकोण बदल रहा है। और नैतिक क्रान्तिकी भूमिका बन रही है। वे ही सफलताके शुभ चिह्न हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस आन्दोलनने वातावरणको प्रभावित किया है।

समन्वयकी दशा

अणुव्रत-आन्दोलन जाति, वर्ग तथा देशके भेदोंको गौण मानता है। यही नहीं, धर्म-भेदके प्रति भी इसका दृष्टि-बिन्दु सद्भावी और सहिष्णु है। किसी भी धर्मको माननेवाला इसका सदस्य बन सकता है। इतना ही नहीं, इसकी रचनाके आधारभूत तत्त्व भी सर्वसाधारण हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – ये सर्व धर्म सामान्य तत्त्व हैं। इन्हें कोई अस्वीकार नहीं करता। सांख्ययोगमें इन्हें 'यम' कहा जाता है। पतंजलिने यमको उसी अर्थमें रखा है, जिस अर्थमें जैन सूत्र अणुव्रतका प्रयोग करते हैं। महाव्रत शब्द दोनोंकी भाषामें एक है। पतंजलिने जाति, देश, काल, समयानवच्छिन्न नियमोंको महाव्रत कहा है। जैन भाषामें आगाररहित पूर्ण त्याग महाव्रत कहलाता है। दोनोंका तात्पर्य सर्वथा एक है। महात्मा बुद्धने किंचित् परिवर्तनके साथ इन्हें पंचशील कहा है। श्रमण अणु और स्थूल दोनों प्रकारके पापोंको वर्जता है। जब गृहस्थ स्थूल पापोंको वर्जता है तब उनका व्रत अपने-आप अणुव्रत हो जाता है। इसलाम और ईसाई धर्ममें अहिंसा, सत्य और अपरिग्रहकी मर्यादा और शिक्षा है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक धर्म मुमुक्षुके लिए जैसे संन्यासका विधान करता है, वैसे ही गृहस्थके लिए अणुव्रत धर्मका।

अणुव्रत आन्दोलनमें अणुव्रत शब्द जैन-सूत्रोंसे लिया गया है किन्तु भावनामें कुछ अन्तर है। जैन परम्पराकी भावनाके अनुसार अणुव्रती वह बन सकता है जो सम्यक् दृष्टिवाला हो। इसीलिए अणुव्रतोंको सम्यक्त्व-

मूलक कहा गया है। इस आन्दोलनमें यह भावना नहीं है। जैन दृष्टिको स्वीकार करनेवाला ही अणुव्रती बनें, ऐसा नहीं है। इसके सम्यक् दर्शन-की परिभाषा है — अहिंसानिष्ठ दृष्टि। अणुव्रती वह बन सकता है जिसकी अहिंसामें निष्ठा हो। यह आन्दोलन सब धर्मोंको अहिंसामें केन्द्रित करता है। वास्तविक धर्म अहिंसा ही है। सत्य आदि शेष व्रत उसीके पोषक या सहायक हैं। अहिंसानिष्ठ व्यक्ति आत्मशुद्धिके लिए व्रतोंको स्वीकार करेगा, भौतिक अभिसिद्धिके लिए नहीं। व्रतोंका अपना स्वतन्त्र मूल्य है। भौतिक सिद्धिके लिए उनका प्रयोग उनकी उच्चताका अपमान है। अर्थ-व्यवस्था असंयमसे सुधर सकती है, तब भला कौन उसके सुधार-के लिए व्रतका कठोर मार्ग अपनायेगा? अर्थके लिए व्रतको अपनानेवाला अर्थनिष्ठ हो सकता है, व्रतनिष्ठ या अहिंसानिष्ठ नहीं। इसीलिए व्रती बननेका उद्देश्य मात्र आत्मशुद्धि होनी चाहिए। अन्तरकी शुद्धि बाहरी वातावरणको शुद्ध बनायेगी। उससे आर्थिक और भौतिक व्यवस्था अपने-आप शुद्ध होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। अणुव्रत आन्दोलन केवल जीवन-शुद्धिकी सामान्य भूमिकाका समन्वय ही नहीं करता वह धार्मिक मतभेदोंके प्रति सहिष्णु भी बनाता है। वह अहिंसावादियोंका सार्वजनिक मंच है। इसके सहारे अहिंसाका उच्चघोष किया जा सकता है। सब धर्मोंका विचार-भेद मिटे यह कठिन है, किन्तु उनका विरोध घटे यह अपेक्षित है और यह सम्भव भी है। अणुव्रत-आन्दोलन इसका माध्यम है। धर्म और व्यवहारकी खाईको पाटकर उनका समन्वय करना इसका दूसरा उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त तीसरी दृष्टि यह है कि धर्म — जो बुद्धि, विचार और भाषाका धर्म बन रहा है, वह जीवनका धर्म बने।

व्यावहारिक लाभ

वर्तमानकी मुख्य समस्या आर्थिक है, ऐसा माना जाता है। अर्थ-शास्त्री इसका समाधान प्रचुर उत्पादन बताते हैं। बाहरी रूपमें कुछ

हल-सा हुआ लगता है। किन्तु जबतक महालोभ है तबतक यह समस्या सुलझ जायेगी, ऐसा नहीं लगता। इसका निरपवाद समाधान संयम है। व्रती जीवन जहाँ आत्मशान्ति पैदा करता है वहाँ वह आर्थिक समस्या भी समाधान देता है। व्रती जीवन वर्तमान युगकी सर्वोच्च आवश्यकता है। इसके अनुकूल वातावरण बनाना सबका कर्त्तव्य है। जब व्रतोंकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी तब मुख्य रूपमें शुद्धि और व्यवहारमें श्रम और स्वावलम्बनकी प्रतिष्ठा भी आयेगी। श्रम-निष्ठाके बाद भी व्रत-निष्ठा शेष रहती है, किन्तु व्रत-निष्ठा अपने-आप फलित हो जाती है।

अणुव्रत-आन्दोलन संयमकी न्यूनतम साधनाका आन्दोलन है। देश, काल और परिस्थितिजनित बुराइयाँ अपने-अपने ढंगकी अलग-अलग होती हैं। किन्तु मनुष्यकी जो शाश्वत दुर्बलता है, वह सभी देश, काल और परिस्थितियोंमें एक-सी रही है। जबतक मूल हरा रहता है, तबतक शाखा-प्रशाखा, पत्र, पुष्प और फल बनते-बिगड़ते रहते हैं। असंयम सब बुराइयोंका मूल है। हिंसा, असत्य, चोरी, भोग-विलास और संग्रह – ये सभी दोष उसीके नाना रूप हैं। इनपर एक साथ नियन्त्रण पा लेना बहुत ही कठिन है। पर इनपर कोई अंकुश ही न हो, यह तो और भी भयंकर है।

मैं बहुधा शान्ति और मैत्रीके प्रश्नोंपर सोचा करता हूँ। इनकी चर्चाएँ मुझे भी करनी होती हैं। मैं एक धर्माचार्य हूँ और अणुव्रत आन्दोलनके उद्देश्योंका जनताको परिचय देता हूँ। इसलिए बार-बार मेरे सामने ये प्रश्न आते रहते हैं। भारतीय और अभारतीय सभी प्रकारके लोग मुझसे मिले हैं और उन्होंने शान्ति एवं मैत्रीके विषयमें जिज्ञासाएँ की हैं। मेरे अनुभवमें ये व्यापक जिज्ञासाएँ हैं। कोई पूछता है, कोई नहीं पूछता हैं। पर शान्ति कैसे मिले – यह प्रश्न लगभग सभीके मनमें है। और यह होना भी चाहिए। प्रत्यक्षमें जीवनका सर्वोपरि साध्य शान्ति ही तो है। वह नहीं मिली तो बहुत-कुछ पाकर भी मनुष्यने कुछ नहीं पाया। वह

मिली तो कुछ भी न पाकर वह सब कुछ पा लेता है, बहुत-कुछ प्राप्त हो जाता है। उसका सम्बन्ध आवश्यकता पूर्तिसे है। शान्ति इससे आगेकी चीज़ है। उसके लिए भय-मुक्त होनेकी आवश्यकता है।

शान्ति यदि जीवनका सर्वोपरि साध्य है, तो उसका सर्वोपरि साधन है भय-मुक्ति। इसके बिना न मैत्री होती है और न शान्ति। वैज्ञानिक आविष्कार भय-मुक्तिकी दिशामें असफल हुए हैं, बल्कि भय उनसे बढ़ा ही है। शक्ति और सत्तामें सदा प्रतिस्पर्धा रहती है। इसीके फलस्वरूप शस्त्रोंकी संहारक शक्तिका उत्तरोत्तर विकास हो रहा है।

अब मनुष्य समाजके सामने दो ही विकल्प शेष है — या तो वह भय-मुक्त बने या विध्वंसक शस्त्रोंके विस्फोटसे स्वयं ही नष्ट हो जाये।

यदि यह विश्व जाति, वर्ण और भौगोलिक सीमाओंमें बँटा हुआ नहीं होता, यहाँ संग्रह और अधिकार करनेका मनोभाव नहीं होता, तो न सन्देह होता, न भय और न अशान्ति ही। यदि मनुष्यको शान्तिसे रहना है तो उसे एक दिन ऐसा करना ही होगा। किन्तु अभी इस मन:स्थितिको विकसित होनेमे बहुत समय लग सकता है। वर्तमानकी अपेक्षा यह है कि व्यक्ति संयमका अभ्यास करे। वह दूसरोंके स्वत्वपर अधिकार न करे। जो उद्योगपति हैं, उनसे यह अपेक्षा है कि वे श्रमिकोंके श्रमपर अधिकार न करें। जो राष्ट्र-नेता हैं, उनसे यह अपेक्षा है कि वे दूसरे राष्ट्रोंपर अधिकार करने या बनाये रखनेकी बात न सोचें, शक्तिहीन राष्ट्रोंको धमकियाँ न दें तथा अपने ढंगकी शासनप्रणालीको मान्य करनेके लिए विवशता उत्पन्न न करें। अपने स्वार्थको ही प्रमुखता देनेवाला न केवल दूसरोंके स्वार्थको हानि पहुँचाता है अपितु वह अपना स्वार्थ भी विघटित करता है। राजनयिक लोग बहुत गहराईसे सोचते हैं, किन्तु स्वार्थकी भूमिकामे वह गम्भीर चिन्तन भी समाधान नहीं देता, प्रत्युत् वह उलझनें उपस्थित करता है। इस वैज्ञानिक और शिक्षा-बहुल युगमें अब कूटनीतिमें अपनेको घूँघटमें छिपाये रखनेकी क्षमता नहीं रही है। आज प्रत्येक व्यक्ति

व समाज ही नहीं बल्कि प्रत्येक राष्ट्र सरलतासे एक-दूसरेके साथ मैत्री-पूर्ण बरताव करनेकी नीति अपनाये, इसीमें सबका हित है।

भय-मुक्तिके लिए अणुव्रत-आन्दोलन इन आचरणोंको आवश्यक मानता है—

१. जाति, वर्ण और भौगोलिक भिन्नताके कारण मनुष्य मनुष्यसे घृणा न करे।

२. सत्ता या बल-प्रयोगसे दूसरोंके विचारोंको कुचलनेका प्रयत्न न करे।

३. कम देकर अधिक श्रम लेनेका प्रयत्न न करे।

४. मनुष्य जातिकी एकता, अविभक्तता और समान अनुभूतिशीलतामें विश्वास करे।

५. आक्रमण न करे।

६. दूसरोंके अधिकारोंको हड़पनेका यत्न न करे।

७. दूसरोंकी प्रभु-सत्तामें हस्तक्षेप न करे।

८. भूलसे भी जो अन्यायपूर्ण क़दम उठ जाये, उसके लिए क्षमा-याचना कर ले।

९. विरोधी प्रचार न करे, व्यक्तिगत रूपसे किसीको लांछित या अपमानित न करे।

भय-मुक्तिका अर्थ है — विश्वास। विश्वासका अर्थ है — मैत्री। मैत्रीका अर्थ है — शान्ति। शान्तिका अर्थ है — जीवनके महान् साध्यकी सिद्धि।

■

वर्तमान समस्याएँ

जहाँ जीवन है वहाँ समस्या है और जहाँ समस्या है वहाँ जीवन है। जीवन और समस्या दोनों साथ-साथ चलते हैं। मनुष्यमें ज्ञान होता है, इसलिए वह उसका समाधान खोजता है। उसमें पुरुषार्थ होता है इसलिए वह उसका समाधान करता है।

समाधानकी भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ हैं। मेरी दृष्टिमें सारी समस्याओंका समाधान एक रूप नहीं है। सब समस्याएँ भी एक रूप नहीं हैं। कुछ समस्याएँ भौतिक हैं और कुछ अभौतिक। भौतिक समस्याओंका समाधान भौतिक हो सकता है और अभौतिक समस्याओंका समाधान अभौतिक। यह समाधान सर्वथानिरपेक्ष नहीं है। अभौतिक उपलब्धिके अभावमें भौतिक समस्या प्रबल होती है और भौतिक उपलब्धिके अभावमें अभौतिक समस्या भी उलझ जाती है। अध्यात्मसे रोटी नहीं मिलती पर जिस कारणसे रोटी नहीं मिलती, उस कारणका अर्थात् संग्रहका निराकरण अध्यात्मसे हो सकता है। सन्तोष अभौतिक उपलब्धि है। उसके अभावमें भौतिक समस्या जटिल बनती है। अतृप्ति या असन्तोष अभौतिक समस्या है। भौतिक वस्तुओंसे सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता पर जीवनकी अनिवार्य आवश्यकताएँ सुलभ हों तो सन्तोषकी उपलब्धिमें सहयोग मिलता है। इस आंशिक सत्यको बहुत आगे तक नहीं खींचा जा सकता। इसलिए एक सीधी रेखा यही होगी कि कोरे अभौतिक विकाससे भौतिक समस्याओं और कोरे भौतिक विकाससे अभौतिक समस्याओंका समाधान नहीं होगा। भौतिक समस्याओंका समाधान श्रम और उपकरणोंका आवश्यक विकास है तो अभौतिक समस्याओंका समाधान चारित्र-विकास है।

कुछ लोग नहीं चाहते कि वस्तु-विकास और चारित्र-विकासको विभक्त किया जाये। वे जीवनको अविभक्त मानते हैं और वैसा ही देखना चाहते हैं। उनकी दृष्टिमें वस्तु-विकास और चारित्र-विकास एक ही सत्यके दो पहलू हैं। वस्तु-विकासके बिना चारित्र-विकास और चारित्र-विकासके बिना वस्तु-विकास नहीं होता। इसकी आंशिक सचाईको मैं अस्वीकार नहीं करता। हमारे अभिमतमें एक स्थिति दूसरी स्थितिको प्रभावित करती है पर मैं इन दोनोंके उपादानको भिन्न मानता हूं। वस्तु-विकासका उपादान जहां भौतिक सामग्रीकी प्रकट उपलब्धि है, वहां चारित्र-विकासका उपादान चैतन्यकी साक्षात् उपलब्धि या आन्तरिकताका उदय है। वस्तु-विकास मनुष्यकी आवश्यकता-पूर्तिका हेतु है पर लक्ष्य नहीं है। अणुव्रत-आन्दोलनका ध्येय यह है कि मनुष्य लक्ष्यकी ओर आगे बढ़े। प्रश्न होता है – लक्ष्य क्या है? इसका उत्तर है कि 'साम्य' है। साम्य वह स्थिति है –

१. जहां जाति, वर्ण और रंग-भेदकी विषमता न हो, घृणाका अंश भी न हो।

२. जहां भाषा, प्रान्त और राष्ट्रका भेद केवल उपयोगिताके लिए ही हो, उससे मनुष्य जातिकी मौलिक एकता खण्डित न हो।

३. जहां सत्यका ही सर्वोपरि मूल्य हो, सम्प्रदाय आदि संस्थान उसकी व्याप्तिके लिए ही हों।

४. जहां अहंकार और ममकारका विसर्जन हो, जिसमें अपने हितके लिए दूसरोंके हितोंका हनन न हो।

५. जहां दमन, शोषण और अन्यायका स्वतन्त्र भावसे वर्जन हो।

६. जहां राज्यके नियन्त्रण और क़ानूनोंकी कमी हो तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य अधिक हो।

७. जहाँ अनर्थ हिंसा और अनावश्यक निजी सम्पत्तिका अपनो सहज भावनासे वर्जन हो।

८. जहाँ आक्रमण न हो।

९. जहाँ अभय, प्रेम, सद्भावना और सहिष्णुता हो।

ये सब साम्यके रूप हैं। इनकी साधनासे अणुव्रती-समाजकी कामना सफल होती है।

आन्दोलनके जो व्रत हैं, वे केवल दिशा-सूचक हैं। वे साधन हैं, साध्य नहीं हैं। जो लोग अणुव्रतोंके शब्दोंको पकड़ क्रमिक विकासको अवरुद्ध कर देते हैं वे उनके हृदयको नहीं पहचानते।

अणुव्रतोंको मैं इसलिए अधिक महत्त्व देता हूँ कि उनकी पृष्ठभूमिमें अध्यात्मका बल है। आजका मानव-समाज यदि सचमुच शान्तिका इच्छुक है तो उसके लिए अध्यात्मका स्वीकार अनिवार्य है। दूसरा कोई विकल्प नहीं है यदि उसे शान्ति, शिष्टता और मानवताकी सुरक्षा प्रिय है।

अणुव्रत-आन्दोलनकी वर्तमान समस्याओंके प्रति भी जागरूक रहना चाहिए। आज एकताकी समस्या सबसे अधिक जटिल है। जो लोग एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकता देखनेके अभ्यासी थे वे कोरे अनेकतावादी बने। यह परिवर्तन इस बातका सूचक है कि वे अपने मौलिक दर्शनसे दूर हो रहे हैं। उनका मस्तिष्क किसी नये दर्शनकी सृष्टि कर रहा है और उसमें अनेकता और एकतामें सामंजस्य स्थापित करनेकी क्षमता नहीं है। छोटे-छोटे प्रश्न बड़ा रूप धारण कर लेते हैं, सामान्य बात आग्रहमें परिणत हो जाती है। ये सब उसीके परिणाम हैं।

हिन्दीका प्रश्न इसलिए जटिल बना हुआ है कि अनेकतामें एकता लानेका मानस स्वस्थ नहीं है। यदि ऐसा नहीं होता तो यह प्रश्न इतना नहीं उलझता। किसी भाषा-विशेषके प्रति कोई अनुराग नहीं है। किन्तु यह अपेक्षा अवश्य है कि अनेकतामें एकता स्थापित करनेवाली कोई

एक राष्ट्रव्यापी भाषा अवश्य होनी चाहिए। सारी परिस्थितियोंके अध्ययनके पश्चात् यही कहा जा सकता है कि राष्ट्रव्यापी भाषा बननेकी क्षमता हिन्दीमें सर्वाधिक है। उसे यह स्थान वैधानिक रूपमें मिल भी चुका है पर जिस आत्मीयतासे मिलना चाहिए और सबके द्वारा मिलना चाहिए, वह नहीं मिल रहा है। मेरी दृष्टिमें वह औचित्यका हनन है। मेरे-जैसे लोगोंके लिए, जो समूचे राष्ट्रमें पाद-विहार करते हैं और जन-साधारणसे सीधा सम्पर्क स्थापित करना चाहते हैं, यह बहुत बड़ी समस्या है कि राष्ट्रकी कोई एक भाषा नहीं है। दक्षिण भारतकी यात्रा सामने है। मैं वहाँ जाकर क्या करूँ, भाषा सीखूँ या जनताके बीच जाकर काम करूँ? भाषा भी कौन-कौन-सी सीखूँ? वहाँ भी कोई एक भाषा नहीं है।

मैं प्रान्तीय भाषाओंके विकासको ठप्प करनेका पक्षपाती नहीं हूँ। और मुझे लगता है द्वन्द्व जो है व प्रान्तीय भाषाओं व हिन्दीमें नहीं है। वह अँगरेजी और हिन्दीमें है। देशमें एक ऐसा वर्ग है जो अँगरेजीको सर्वाधिक मान्यता देता है। मैं नहीं मानता कि उसके पीछे कोई तर्क-बल नहीं है। किन्तु सर्वोपरि तर्क यह है कि जिस राष्ट्रकी अपनी कोई एक भाषा राष्ट्रव्यापी नहीं होती वह एकता स्थापित करने व विकास करनेमें जटिल परिस्थितियोंमें-से गुजरता है। हिन्दीके राष्ट्रभाषाका सम्मानपूर्ण स्थान मिलनेसे उत्तरभारतकी जनता अधिक लाभान्वित होगी, दक्षिणकी कम। यह मानसिक चिन्तन त्रुटिपूर्ण है। उत्तर और दक्षिणका विभाजन भी अदूरदर्शितापूर्ण है। राष्ट्रका कोई एक भाग दूसरे भागको विकल रखकर स्वयं पूर्ण नहीं बन सकता। अँगरेजीके सहायक राष्ट्रभाषा रहनेसे दक्षिणके लोग अधिक लाभान्वित होते हैं और उत्तरवासी कम — इसी दृष्टिकोणसे यदि यह राष्ट्रभाषाई आन्दोलन हो तो वह ग़लत है। किन्तु राष्ट्रकी एकताके लिए एक भाषाको विकसित करना चाहिए — इस दृष्टिसे जो आन्दोलन हो उसके औचित्यमें सन्देह कैसे किया जा सकता है? मैं इस

सारी समस्याको एकताकी दृष्टिसे ही विचारणीय मान रहा हूँ। मैं सब लोगोंको यही परामर्श देना चाहूँगा कि कोई भी आदमी ऐसा काम न करे, जिससे एकताकी स्थिति भंग हो और अनेकताको बल मिले।

भावात्मक एकताके लिए संयम और धैर्यसे काम लेना बहुत जरूरी है।

■

प्रगतिके लिए कोरा ज्ञान पर्याप्त नहीं

१. दो भाई थे। वे राजाकी सेवामें संलग्न थे। वे कार्य-कुशल, प्रिय और विश्वस्त थे। वे बिना रोक-टोक सब जगह जाते थे। रनिवासके द्वार भी उनके लिए सदा खुले थे। विश्वासपर पाला पड़ गया। छोटे भाईने रनिवासमें अनाचारका सेवन कर लिया। उसके लिए रनिवासके द्वार बन्द हो गये। बड़े भाईके लिए भी रनिवासका प्रवेश स्वतन्त्र नहीं रहा। अब वह प्रहरीके द्वारा राजाकी अनुमति पाकर ही अन्दर जा सकता था।

२. एक गाँवमें कई कुएँ थे। उनमें कोई विकार उत्पन्न हुआ, सबका जल बिगड़ गया। पानी इधर-उधरसे आने लगा। पहले जलके बारेमें कोई प्रश्न नहीं था। अब पूछा जाने लगा कि जल कहाँका है?

३. एक गाँवमें तिलों और चावलोंका बहुत बड़ा व्यापार था। लोग प्रामाणिक थे। अच्छे तिल और अच्छे चावल बेचा करते थे। एक व्यापारीका मन लालचसे भर गया। वह सड़े हुए तिल बेचने लगा। दूसरे व्यापारीकी नीयत बिगड़ी, वह खराब चावल बेचने लगा। ग्राहक अब दुकानोंपर पूछने लगे — तिल कैसे हैं? चावल कैसे हैं?

४. एक नगरके पूर्व भागमें बहुत मन्दिर थे। उनमें अनेक तपस्वी रहते थे। वे शील-सम्पन्न थे। लोग उन सबकी श्रद्धा-भावसे पूजा किया करते थे, सबको भोजनके लिए निमन्त्रित किया करते थे। एक मन्दिरके तापसोंका शील विकृत हो गया। अब निमन्त्रण देते समय विचार होने लगा — किन्हें निमन्त्रित किया जाये?

५. एक गाँवमें गायोंके बहुत बड़े व्रज थे। वहाँसे दूर-दूर तक गायें बिकने आती थीं। किसी समय वहाँ गायोंमें रोग फैला। अब गो-विक्रेता-

को पूछा जाने लगा – गायें कहाँसे लाये हो ?

ये व्यवहार-भाष्यके शब्द-चित्र हैं। ये वर्तमान समस्याके मूलको अपनेमें समेटे हुए हैं। कुछेककी विकृति और अप्रामाणिकताका परिणाम सबपर होता है, इसके ज्वलन्त निदर्शन हैं। आज यदि मूर्खतावश कोई एक राष्ट्र अणु-आयुधोंका प्रयोग करे तो क्या उसके परिणामका भागी वही होगा ? क्या दूसरे राष्ट्र उसके परिणामसे अस्पृष्ट रह सकेंगे ? इसका समाधान बहुत ही स्पष्ट है। पागलपन जितना तीव्र होता है उतना ही भयंकर उसका परिणाम होता है। आज पागलपनका दौर नखसे शिख तक है। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ा है, वैसे-वैसे यह उन्माद भी बढ़ा है। प्रगतिके लिए कोरा ज्ञान पर्याप्त नहीं है। ज्ञानके साथ अमूढ़-भाव विकसित हो तभी प्रगतिका पथ प्रशस्त हो सकता है। आध्यात्मिकता और क्या है ? अमूढ़ता-की साधना जो है, वही है आध्यात्मिकता। दूसरोंके अधिकारों, विचारों और जीवन-प्रकारोंपर प्रहार जो होता है, उसका सम्बन्ध ज्ञानसे उतना नहीं होता, जितना मूढ़ मनोवृत्तिसे होता है। नैतिकता या प्रामाणिकताको अध्यात्मकी भूमिकापर लानेमें यदि हम समर्थ हुए तो प्रगतिमें कोई बाधा न आयेगी।

मनकी स्थिति है, जहाँ सन्देह नहीं होता वहाँ प्रश्न नहीं होता। उक्त प्रश्न जिज्ञासाके प्रश्न नहीं हैं, सन्देहसे उत्पन्न हुए प्रश्न हैं। सन्देह किसने उत्पन्न किया ? विकारने, अप्रामाणिकताने।

अप्रामाणिकताका इतिहास नया नहीं है। मनुष्य जितना पुराना है, उतना ही पुराना उसका लोभ है। जितना पुराना लोभ है उतनी ही पुरानी अप्रामाणिकता है। यह भी सच ही है कि लोभ उपशान्त रहता है तब अप्रामाणिकता नहीं बरती जाती है। कौटिल्यने व्यापारी, शिल्पी आदि-को 'अचोर-चोरः' (चोर न कहलानेवाले चोर) कहा है। यह उनके अप्रामाणिकताकी ओर संकेत है। उनके अप्रामाणिक बननेमें परिस्थितियाँ और लाभका उभार दोनों निमित्त हैं। बुराई जो भी है उसका एक

निमित्त है व्यक्तिका अपना मानस और दूसरा निमित्त है, परिस्थिति। मानसके सुधरे बिना क्या मानव सुधर सकता है? इसका उत्तर एकान्ततः नहीं दिया जा सकता। कुछेक व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं, जो परिस्थितियों की अवहेलना कर आगे बढ़ सकें, सब कुछ सहकर भी प्रगति कर सकें। सब लोगोंके लिए यह बात सम्भव नहीं है। सामान्य मार्ग यही है कि अप्रामाणिकताके निमित्तोंसे बचा जाये।

कर्मवादकी विचारणामें कोई विश्वास करे या न करे पर यह तो स्पष्ट है कि सबके सब पूँजोपति नहीं बनते और सबको अनुकूल परिस्थितियोंका योग नहीं मिलता। यह जो होता है, वह एक विशेष परिस्थितिका परिणाम है जिसमें व्यक्तिकी आन्तरिक और बाहरी दोनों परिस्थितियाँ समन्वित होती हैं। कुछ लोग भाग्यवादकी भाषाको मानते हैं पर वही दुःखवादका प्रवर्तक है, इसे वे नहीं जानते या जानकर भी उसमें विश्वास नहीं करते। भाग्यकी गतिके साथ चरित्रकी प्रगति होती है तब उसका स्रोत प्रतिकूल दिशामें प्रवाहित नहीं होता। चरित्र-विकासके अभावमें भाग्य आगे चलकर दुःखमें परिणत हो जाता है। इतिहासके किसी भी कालमें इसे कसौटोपर कसा जा सकता है।

प्रगति और क्या है? इन निमित्तोंके परिवर्तनका नाम ही तो है। देश-कालके परिवर्तनके साथ निमित्त भी परिवर्तित होते रहते हैं। एक समयमें कोई वस्तु किसीका निमित्त बनती है, दूसरे समयमें नहीं भी बनती। रूढ़ि और क्या है? जिसकी निमित्त बननेकी क्षमता नष्ट हो जाये फिर भी उसे निमित्त मानते रहना ही तो रूढ़ि है। नया निमित्त बनता है, हम उसे प्रगति कह देते हैं। प्रगति और प्रतिगति दोनों चिरन्तन हैं। बुराई और भलाईका इतिहास भी उतना ही पुराना है जितनी पुरानी मनुष्य जाति है। मनुष्य-जाति जैसे एक है, वैसे बुराई और भलाई भी एक है। मनुष्यमें जो मोह है वही है बुराई और मोह जो धुलता है वही है भलाई। मनुष्य सुख चाहता है, यह शाश्वत प्रवृत्ति

है। सुखका साधन धन है इसलिए वह धन चाहता है। धनका आकर्षण भी मनुष्यमें चिरकालसे रहा है। धनार्जनके साधन पहले भी दोषपूर्ण रहे हैं। प्रतिरूपक व्यवहार अर्थात् मिलावट ढाई हजार वर्ष पहले भी होता था। उपासकदशांगमें इसका उल्लेख मिलता है। वृत्तिकारके अनुसार उस समय लोग अनाजमें मिलावट करते थे, घीमें चर्बी मिलाते थे। श्रमणोपासकके लिए जो व्रतोंके अतिचार बतलाये हैं उनसे यह नहीं जाना जा सकता कि उस समय आजकी बुराइयाँ नहीं थीं। हम अतीतको जितना गौरवपूर्ण मानते हैं, उतना वर्तमानको नहीं। अतीतकी अच्छाइयों-के आलोकमें हम अच्छा मार्ग ढूंढ़ें यह अच्छी बात है पर उसे बुराइयोंसे मुक्ति मान केवल वर्तमानको ही दोषपूर्ण मानें यह बात अच्छी नहीं है। बुराइयोंका मूल पहले भी था और आज भी है। उनके प्रकार कुछ वैसे ही आज भी हैं। प्राचीन साहित्यमें स्त्रियोंके अपहरणकी घटनाएँ मिलती हैं, वे आज नहीं होतीं। आवेगशीलताके जो उदाहरण मिलते हैं, वे आज नहीं मिलते। बड़े-बड़े राष्ट्र भी सहसा आक्रमण नहीं करते। समझौता-वार्ता-द्वारा समस्याओंको सुलझानेका यत्न करते हैं। सभ्यता बढ़ी है, बुद्धिवाद बढ़ा है। एक-दूसरेको निकटसे समझनेका प्रयत्न होता है। विरोधी दृष्टिकोण कम हुआ है, समन्वयका मनोभाव विकसित हुआ है। एक शब्दमें भलाईके प्रकारोंका विकास हुआ है। फिर भी हम नहीं कह सकते कि आजके लोग चरित्रहीन नहीं हैं।

सत्यके प्रति जितनी आस्था आज है, उतनी सम्भवत: पहले नहीं थी। विश्वास और प्रेम जितना घटा है उतना शायद पहले नहीं घटा होगा। मिलावटके प्रकार और मात्रा आज अधिक विकसित हुई हैं। दूसरोंकी निन्दा करनेका चातुर्य आज अधिक विकसित हुआ है। अनु-शासनहीनता भी बढ़ी है। आज राज्यके सामने समाज और समाजके सामने व्यक्ति छोटा हो गया है फिर भी हम नहीं कह सकते कि आजके लोग चारित्रवान् नहीं हैं।

वर्तमान अतीतकी परिधिमें जाता है पर अतीत कभी वर्तमान नहीं बनता। उसका चित्रण ही किया जा सकता है। भविष्यकी कल्पना की जा सकती है। कलका भारत कैसा होगा इसे हम कल्पनासे आगे नहीं ले जा सकते। आज भारत जो है, उसे बदलना है। कभी भी ऐसा नहीं रहा जिसमें परिवर्तन, सुधार या क्रान्तिकी अपेक्षा न रही हो। कलको और अधिक समुज्ज्वल बनानेकी कल्पनाएँ भी सदा रही हैं। कलका भारत कैसा होना चाहिए? यह प्रश्न सर्वोपरि है। स्वतन्त्रताकी माँग यह है कि राज्यका स्थान छोटा हो, समाजका स्थान बड़ा, समाजका स्थान छोटा हो व्यक्तिका स्थान बड़ा। व्यक्तिका स्थान बड़ा होगा तभी समाजमें बड़प्पन आयेगा।

व्यक्तिका स्थान इसलिए छोटा हो गया है कि वह अनेक विभाजन-रेखाओंसे सीमित है। परिवार, जाति, भाषा, प्रान्त, राष्ट्र, धन आदिसे उसकी असीमता ढँकी हुई है। भारतमें जाति और वर्णकी समस्या सर्वाधिक जटिल है। अगली पीढ़ीका सर्वोपरि लक्ष्य होगा जाति, वर्ग, और वर्णहीन समाजकी स्थापना। इस समाजका अर्थ अणुव्रत ही हो सकता है। अणुव्रत-आन्दोलन जाति, वर्ण, आदिमें विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार मनुष्य जाति एक है। विभाजनकी बाहरी रेखाएँ कल्पित हैं। मनुष्य-मनुष्यमें भेद डालनेवाले जितने प्रयत्न हैं वे सब जघन्य हैं। मनुष्यकी उच्चता और नीचताका मापदण्ड पदार्थ नहीं है। वह ऊँचा बनता है चरित्रको विकसित कर और नीचा बनता है चरित्रको गँवाकर।

चरित्रका अर्थ केवल आर्थिक बुराइयोंसे मुक्त होना ही नहीं है। शान्ति, मैत्री, समन्वय, अधिकारका अनपहरण, अनाक्रमण — ये सब चरित्रके अंग हैं। मानव-समाज इनसे सम्पन्न हो, यही हमारा इष्ट है।

■

वर्तमान तनाव और आध्यात्मिकता

आध्यात्मिकता जितनी अपेक्षित है, उतनी अपेक्षित कोई वस्तु नहीं है। यह एक धारणा है। इसकी सचाईको परखना जरूरी है। दुनियाके अंचलमें ऐसे अनेक लोग हैं जो नहीं जानते कि आध्यात्मिकता क्या है? यदि वह सबसे अधिक अपेक्षित होती; तो उसे जाने बिना, वे कैसे जी पाते?

जीना एक बात है और जैसे जीना चाहिए, वैसे जीना दूसरी बात है। जीते सब हैं, जिन्हें जीवन मिला है। किन्तु जैसे जीना चाहिए, वैसे बहुत कम लोग जीते हैं। कारण यही है कि उन्हें आध्यात्मिक विकास-का योग नहीं मिला है।

आध्यात्मिक विकास नैसर्गिक भी होता है और विवेक जनित भी। ऐसे लोग भी मिलेंगे जिनकी शैक्षणिक योग्यता अल्पतम है, फिर भी वे बहुत अच्छा जीवन जीते हैं – शान्तिमय और सुखमय। ऐसे लोग भी कम नहीं हैं, जिनकी शैक्षणिक योग्यता बहुत है पर वे बहुत क्लेशमय जीवन जीते हैं – अशान्तिमय और दुःखमय।

आध्यात्मिक विकासका सम्बन्ध ज्ञान-विज्ञानसे नहीं किन्तु हृदयकी पवित्रतासे है। वह सहज प्राप्त हो तो बहुत अच्छी बात है। यदि न हो तो उसे प्रयत्नसे प्राप्त करो। प्रयत्न यह नहीं कि बहुत पढ़ो। सही प्रयत्न यही होगा कि विवेकको जगाओ। विवेकका अर्थ है पृथक्करण-विश्लेषण। जो तुम्हारा नहीं है, उसे तुम अपना समझते हो, यह अविवेक है और जो तुम्हारा है उसे तुम अपना नहीं समझते, यह भी अविवेक है। यह अविवेक ही क्लेशमय जीवनका मूल है।

धन और पदार्थ तुम्हारी निजी वस्तु नहीं हैं। फिर भी तुम उन्हें निजी वस्तु मानते हो। इसलिए उन्हें पानेके लिए उचित, अनुचित सभी साधनोंका आलम्बन लेते हो। उससे तुम्हारा और तुम्हारे सम्पर्कमें आनेवालोंका जीवन क्लेशमय बनता है।

धनसे आवश्यकताकी पूर्ति होती है, इसलिए उसे पानेकी धुन रहती है। उसे निजी वस्तु भला कौन विवेकशील व्यक्ति मान सकता है?

आवश्यकताकी पूर्तिके लिए जितना धन चाहिए, उतना शायद उचित साधनोंसे भी मिल सकता है, पर धनका संग्रह प्रायः वे लोग करते हैं, जिनके सामने आवश्यकताका प्रश्न नहीं है।

क्या प्रतिष्ठा आवश्यक नहीं है? धनसे वह प्राप्त होती है। धन कैसे भी आये, पर जिसके पास वह है, उसे प्रतिष्ठा प्राप्त है। जो प्रति-ष्ठित है, वह सब कुछ है और धनको प्रतिष्ठा वे ही लोग नहीं देते, जो स्वयं धनी हैं, किन्तु वे भी देते हैं, जो निर्धन हैं और सम्भवतः वे अधिक देते हैं।

इसका अर्थ यही हुआ कि धनिकोंको धनिक बननेकी प्रेरणा निर्धन लोगोंसे मिलती है और उन लोगोंसे मिलती है, जो धनको ही सब-कुछ मानते हैं। यह मूल्यांकनका ग़लत दृष्टिकोण या अविवेक ही आर्थिक विष-मताका मूल है।

सारी चर्चाका सारांश यह है कि धनसे आवश्यकताकी पूर्ति होती है, प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, इसलिए उसका संग्रह किया जाता है यानी आव-श्यकताकी पूर्ति और प्रतिष्ठा निजी हैं, उसके लिए उसका संग्रह किया जाता है। यह भी विवेक नहीं है।

अनुचित साधनोंका आलम्बन लेनेसे मनुष्य मनुष्यके प्रति क्रूर बनता है। मानवीय समानताकी अनुभूति भंग होती है। यदि सब मनुष्यके मनमें यह अनुभूति तीव्र होती कि मनुष्यको मनुष्यके प्रति अन्यायका आचरण नहीं करना चाहिए तो मनुष्य आजके मनुष्यसे भिन्न होता और

भिन्न ही होते उसके जीवनके मूल्यांकन।

आज जितनी कठिनाइयाँ हैं, उनमें-से अधिकांश कठिनाइयाँ इसीलिए हैं कि मनुष्य-मनुष्यमें समानताकी अनुभूति नहीं है, या बहुत कम है। अन्याय, विश्वासघात, आक्रमण आदि अमानवीय कृत्य इसीलिए होते हैं कि मनुष्य-मनुष्यमें असमानताकी अनुभूति है।

मनुष्य मनुष्यका सबसे निकट निजी है। पदार्थ उससे कहीं अधिक दूर है। पर पदार्थ सदा मनुष्य-मनुष्यके बीच दीवार बनकर रहा है और वह इसलिए बनकर रहा है कि उसकी अपेक्षा एकको भी है और दूसरेको भी है। दोनों अपनी-अपनी अपेक्षा पूरी कर पाते तो पदार्थ मनुष्य-मनुष्यके बीच दीवार नहीं बन पाता। पदार्थ कम है, अपेक्षा अधिक है या कुछ लोग पदार्थोंको अनावश्यक मात्रामें संगृहीत कर लेते हैं, इसलिए शेष लोगोंकी अपेक्षा पूरी नहीं होती। जिनके पास अधिक होता है, उनके लिए, जिनकी अपेक्षा पूरी नहीं होती, वे शत्रु बन जाते हैं। इस प्रकार मानवीय समानताकी अनुभूति लुप्त हो जाती है। मनुष्य मनुष्यका शत्रु बन जाता है।

मनुष्य-मनुष्यमें स्वभावतः कोई दूरी नहीं है। वह होती है इस निमित्तसे कि जो अपना नहीं है, उसे अपना समझा जा रहा है और जो अपना है, उसे अपना नहीं समझा जा रहा है।

मनुष्यकी सारी प्रवृत्तियाँ उसके दर्शनके आधारपर होती हैं। अणुव्रत-आन्दोलन इस पक्षपर प्रारम्भसे ही बल देता रहा है कि दृष्टिकोण सम्यक् हो, दर्शनकी धारा सही मार्गसे प्रवाहित हो। मैं अनेक बार कह चुका हूँ कि एक मनुष्य असत्य बोलता है, वह उतनी चिन्ताकी बात नहीं है जितनी चिन्ताकी बात यह है कि वह यह मानकर चलता है कि असत्य बोले बिना आजकी दुनियामें काम ही नहीं चल सकता। जहाँ आस्था विपरीत है वहाँ अच्छाईकी सम्भावना ही नष्ट हो जाती है।

कुछ लोग कहते हैं कि अणुव्रत-आन्दोलनका प्रचार बहुत हो चुका,

अब कोई रचनात्मक काम करनेकी जरूरत है। मैं रचनात्मक कामका विरोधी नहीं पर प्रचारको अनावश्यक नहीं मानता और तबतक उसे अनावश्यक कैसे माना जाये जबतक कि हिन्दुस्तानके सारे लोग इस बात-को न समझ जायें कि भ्रष्टाचार और अनैतिकतासे उनका अपना अहित होता है। जहाँ मनुष्यका व्यापक अहित हो, वहाँ कुछेक मनुष्य उससे अपने-आपको सुरक्षित नहीं रख सकते। भले वे थोड़े समयके लिए आँखें मूँदकर सचाईपर परदा डाल लें।

केवल हिन्दुस्तानकी ही नहीं, समूचे विश्वकी परिस्थिति जिन समस्याओंको जन्म दे रही है उसका समाधान भौतिक शक्तियोंके पास नहीं है! पदार्थके विकासकी दिशामें वे महत्त्वपूर्ण काम कर सकती हैं और उन्होंने किया भी है पर मनुष्यके पारस्परिक सम्बन्धोंमें जो अवांछनीय तनाव आया है उसे वे नहीं मिटा सकतीं। अणुव्रत-आन्दोलन इस बातके लिए प्रयत्नशील है कि संसारकी सारी आध्यात्मिक शक्तियाँ संगठित होकर मनुष्यके आपसी तनावको कम करनेका मार्ग ढूँढ़ निकालें। मनुष्यकी भलाईके लिए यह बहुत ही अपेक्षित है।

■

राष्ट्रीय चरित्र-विकासकी अपेक्षाएँ

हर स्थितिके निर्माणमें सामग्री सहायक होती है और हर स्थितिके विघटनमें भी ऐसा ही होता है। एकके बाद एक स्थिति घटित और विघटित होती रहती है। चरित्रके निर्माण और विघटनको भी अपनी-अपनी सामग्री होती है। हिन्दुस्तानकी वर्तमान स्थिति राष्ट्रीय चरित्रके विकासकी दृष्टिसे अच्छी नहीं है। कोई भी राष्ट्र जिसका राष्ट्रीय चरित्र उन्नत नहीं होता, प्रगति नहीं कर सकता। इसीलिए हर विचारशील व्यक्ति उसके चरित्र विकासके लिए चिन्तन करता है और चरित्र-ह्रासके कारणोंका निवारण करना चाहता है।

हम सुविधाके लिए चरित्रको वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय इस प्रकार विभक्त करते हैं। पर सही अर्थमें वह अविभक्त है। चरित्र-पतनका परिणाम अपनेपर भी होता है, समाजपर भी और राष्ट्रपर भी। इसी प्रकार चरित्र-विकासका परिणाम भी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र—इन सभीपर होता है।

चरित्रपतनके प्रमुख कारण हैं—

१. चारित्रिक शिक्षा और साधनाका अभाव।

२. वैयक्तिक दृष्टिकोण।

३. नियन्त्रण शक्तिका अभाव।

४. बड़प्पनके कृत्रिम मानदण्ड।

५. आवश्यकता पूर्तिका अभाव या विलासपूर्ण जीवन।

इनका निवारण करनेके लिए आवश्यक है—

१. हर नागरिकको चारित्रिक शिक्षा मिले। कोरी शिक्षा ही नहीं

उसकी साधनाका कार्यक्रम निश्चित किया जाये। साक्षरता, शिक्षा या सैनिक-शिक्षाको अनिवार्य करनेकी बात जैसे बहुत बार कही जाती है वैसे ही चरित्र-शिक्षाको बात होनी चाहिए। जैसे तकनीकी विषयोंका विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है, वैसे ही चारित्रिक विषयोंका विशेष प्रशिक्षण दिया जाये—उनको साधनाका अवसर दिया जाये। जैसे सामरिक दिमाग़की कल्पना है — समूचा राष्ट्र फ़ौजी शिक्षा प्राप्त करे यानी हर नागरिक सैनिक हो। वैसे ही आध्यात्मिक दिमाग़की कल्पना है — समूचा राष्ट्र चारित्रिक प्रशिक्षण प्राप्त करे यानी हर नागरिक आचार-निष्ठ हो।

२. बहुत लोग ऐसे हैं, जो अपनी स्वार्थ-पूर्तिके लिए समाज और राष्ट्रका अहित करनेमें तनिक भी नहीं सकुचाते। उनमें राष्ट्रीय भावना भरना अस्थायी इलाज हो सकता है। और उसमें राष्ट्रवादी कट्टरताका खतरा भी निहित है। आध्यात्मिक भावना भरना निरापद है और वह स्थायी प्रतिकार है। सबको समान समझनेवाला किसीके प्रति अन्याय नहीं कर सकता। आध्यात्मिक मूल्योंके आधारपर विकसित होनेवाला वैयक्तिक दृष्टिकोण ही वस्तुतः सामुदायिक दृष्टिकोण होता है।

३. भौतिक समृद्धिसे और बहुत कुछ प्राप्त होता है किन्तु मानसिक सन्तुलन या अपनी नियन्त्रण शक्तिका विकास उससे नहीं होता। उसके लिए आत्म-निरीक्षण बहुत आवश्यक है। आवेगोंको रोकनेकी क्षमता प्राप्त किये बिना बहुत बार अनिष्ट घटनाएँ घटित हो जाती हैं। मैं जब कभी विधानसभा या लोकसभा-जैसी संस्थाओंमें आवेगपूर्ण घटनाओंके समाचार सुनता हूँ तब मुझे आश्चर्य होता है और मैं सोचता हूँ — इतने आवेगशील आदमी क्या जनताका सही अर्थमें प्रतिनिधित्व कर सकते हैं? नियन्त्रण शक्तिके अभ्यास-केन्द्र भी बहुत आवश्यक हैं।

४. बड़प्पनकी मिथ्या मान्यता भी राष्ट्रीय-चरित्र-विकासमें बहुत बड़ी बाधा है। पद बड़प्पन की भूमिका नहीं किन्तु कार्यकी कसौटी है। उसका वरण समताके साथ हो तो वह कुछ प्रयोजनीय बनता है अन्यथा वह

राष्ट्र या जनताके साथ विश्वासघात होता है। मानवीय योग्यताका इतना विकास किया जाये कि जिससे पद उसके सामने आकर्षणकी वस्तु न रहे। अणुव्रतोंकी साधना उस कमीकी पूर्तिका बहुत बड़ा साधन है। अणुव्रत केवल छोटे लोगोंके लिए ही नहीं हैं। बड़े लोगोंने ऐसा मान रखा है कि उनके लिए व्रतकी कोई आवश्यकता ही नहीं। मैं विवश नहीं करता कि सब लोग अणुव्रती बनें। मैं यह अवश्य कहना चाहूँगा कि सब लोग, भले फिर वे कितने ही बड़े क्यों न हों, अणुव्रतोंका पालन अवश्य करें।

५. आवश्यकता-पूर्तिका अभाव राष्ट्रीय चरित्र-विकासमें बाधा है किन्तु विलासपूर्ण जीवन भी उसमें कम बाधा नहीं है। अभावकी पूर्ति श्रम या साधनोंको बढ़ानेसे हो सकती है किन्तु साधनोंकी वृद्धिसे जो चारित्रिक शिथिलता आती है, वह अभावजनित शिथिलतासे अधिक भयंकर होती है। उसका निवारण त्याग-भावनाका विकास होनेसे ही सम्भव है।

■

भ्रष्टाचारकी आधारशिलाएँ

यह पहली भूल होगी, यदि हम अवांछनीय समस्याकी रट लगाते जायें किन्तु उसे सुलझानेका प्रयत्न न करें। दूसरी भूल होगी, यदि हम परिणामको मिटाना चाहें, उसके कारणको नहीं। वर्तमान स्थितिमें भ्रष्टाचार बहुत बढ़ गया है – यह आवाज जितनी प्रबल है, उतना प्रबल उसे मिटानेका प्रयत्न नहीं है। भ्रष्टाचार एक परिणाम है। वह तबतक मिट भी कैसे सकता है जबतक उसके कारण विद्यमान हैं।

हमें उस कुत्तेके समान अदूरदर्शी नहीं होना चाहिए जो उसे मारनेके लिए फेंके गये पत्थरको भी चाटने लग जाता है। हमें उस शेरके समान दूरदर्शी होना चाहिए जो गोलीमें उलझे बिना उसे चलानेवालेकी ओर छलाँग भरता है। भ्रष्टाचारके कारणोंको मिटानेका यत्न किया जाये वह अपने-आप मिट जायेगा। भ्रष्टाचारके कारण अनगिनत हैं। संक्षेपमें कुछ ये हैं –

१. अनुशासनहीनता। २. जीवनके झूठे मान-दण्ड और झूठी मान्यताएँ। ३. धन-लोलुपता। ४. सत्ता या पदकी लोलुपता। ५. सामुदायिक जीवनके प्रति निष्ठाका अभाव। ६. राष्ट्र-प्रेमका अभाव। ७. नैतिक-शिक्षाका अभाव। ८. प्रशासन-कौशलका अभाव। ९. सामाजिक रूढ़ियाँ। १०. गरीबी। ११. मँहगाई। १२. अपव्यय–फ़िज़ूलखर्च। १३. नियन्त्रण–कण्ट्रोल। १४. दलगत राजनीति। १५. अधिकारियोंकी नियुक्तिमें बरती जानेवाली पक्षपातपूर्ण नीति।

१. सुधारका मूल बीज अनुशासन है। इस चौराहेपर विरोधी दिशाएँ भी मिल जाती हैं। जो लोग आध्यात्मिक मूल्योंमें विश्वास करते

हैं, वे भी आत्मानुशासनको मूल्य देते हैं और वे लोग भी उसे मूल्य देते हैं जो केवल सामाजिक जीवनके मूल्योंमें ही विश्वास करते हैं।

आत्मानुशासनके अभावमें समाज या राज्यका अनुशासन चलता है। जब अनुशासन चलानेवाले स्वयं अनुशासनहीन बन जाते हैं तब जनता भी अनुशासनहीन बन जाती है। बाहरी अनुशासन भयके आधारपर चलता है। अनुशासक जनतासे भय खाते हैं तो जनता उनसे भय खाती है और जब वे जनताके भयसे मुक्त हो जाते हैं तो जनता उनके भयसे मुक्त हो जाती है। बुराईमें जब दोनोंकी साझेदारी हो जाती है, तब दोनों एक-दूसरेके प्रति निडर हो जाते हैं।

व्यवस्था-भंगसे भी अनुशासनमें शिथिलता आती है। व्यवस्था-भंगका एक कारण है अकर्मण्यता और दूसरा कारण है पक्षपात। कौटुम्बिक जाति, प्रान्त, मित्र आदि सम्बन्धोंकी भावना मनमें गहरी होती है, तब व्यवस्था गौण हो जाती है, सम्बन्ध प्रधान हो जाते हैं। फिर हर काममें पक्षपात होता है। उससे अनुशासन शिथिल हो जाता है।

पद-लोलुपता भी अनुशासनकी शिथिलताका बहुत बड़ा हेतु है। लोकतन्त्रमें सत्ता उन्हींको वरण करती है, जिन्हें समर्थन अधिक प्राप्त होता है। सत्तारूढ़ व्यक्ति अपने समर्थकोंको संरक्षण न दें तो उनकी स्थिति दुर्बल हो जाती है। अतः उनके सामने औचित्य-अनौचित्यकी अपेक्षा उनके संरक्षणका प्रश्न मुख्य बन जाता है। दलगत राजनीतिकी यह अपरिहार्य दुर्बलता है। दलके चुनावमें अनेक अनियमितताएँ बरतनी पड़ती हैं। बहुत सारे अच्छे लोग उन्हें पसन्द भी नहीं करते। पर जहाँ पार्टीका प्रश्न है, वहाँ उनसे वे बच भी नहीं सकते। इस प्रकार अनुशासनहीनता निर्वाचनके समय ही क्षम्य हो जाती है।

२. भ्रष्टाचारकी जड़ें जितनी मानसिक वृत्तियोंमें फैली हुई हैं, उतनी आवश्यकताओंमें नहीं हैं। ये वृत्तियाँ हर सामान्य व्यक्तिमें होती हैं —

क. प्रकाशमें आनेकी मनोवृत्ति ।

ख. बड़ा बननेकी मनोवृत्ति ।

ग. पद या सत्तापर अधिकार करनेकी मनोवृत्ति ।

घ. सुख-सुविधापूर्ण जीवन बितानेकी मनोवृत्ति ।

ङ. अनुकरणकी मनोवृत्ति ।

ये मनोवृत्तियाँ ही सामाजिक जीवनमें प्रतिबिम्बित होती हैं। आचार-संहिता 'क्या करना चाहिए' – इस आधारपर बनती है । व्यक्तिका सहज सुझाव उन प्रवृत्तियोंकी ओर होता है, जिनका निर्देश उसकी मनोवृत्तियोंसे प्राप्त होता है । कर्त्तव्य और कार्यमें जो विसंगतियाँ होती हैं, उनका यही मुख्य हेतु है । समाज हर व्यक्तिको इतनी स्वतन्त्रता दे कि वह अपनी मनोवृत्तियोंके अनुसार कार्य करे तो उसमें असामाजिकताके विकासका खतरा है । केवल बाहरी नियन्त्रणसे उनके सहज झुकावको रोकना भी खतरेसे खाली नहीं है । वैचारिक विकास और नियन्त्रणकी सन्तुलित स्थितिमें ही कुछ समाधान दिखाई देता है ।

क. काम करना छुटपन है और न करना बड़प्पन ।

ख. बड़ा आदमी वह है जो अधिक धनवान् है या अधिकार-सम्पन्न है ।

इन मान्यताओंके आधारपर लाखों आदमी रोटीकी कठिनाई भुगत लेते हैं पर कोई काम नहीं करते या अमुक-अमुक काम नहीं करते ।

बड़ा बने रहनेके लिए अनेक लोग धनका अनावश्यक व्यय करते हैं और सत्ताका झूठा प्रदर्शन करते हैं । जो लोग राजाओंको फ़िज़ूलखर्चीके लिए बदनाम करते थे, वे स्वयं सत्तारूढ़ होनेके बाद फ़िज़ूलखर्चीमें राजाओंसे कम नहीं हैं । क्या जनताके सामान्य स्तरसे असाधारणतम स्तर रखनेवाले जनताके प्रतिनिधि हो सकते हैं ?

३. सत्ता और पदके प्रति जो आकर्षण है, वह कामके लिए शायद उतना नहीं है, जितना बड़ा बननेकी मनोवृत्तिकी पूर्तिके लिए है । सुविधा-

के लिए भी है। सत्तारूढ़ व्यक्तियोंको जो सुविधाएँ प्राप्त हैं, वे न हों तो सम्भव है सत्ताके प्रति आकर्षण कम हो जाये।

४. धनके प्रति जनताका आकर्षण इसलिए नहीं है कि वह उसके कामकी वस्तु है। जो कामकी वस्तुएँ हैं, वे उसीके द्वारा प्राप्त होती हैं। इसलिए उसके प्रति आकर्षण है। यदि धनके द्वारा वस्तुएँ न मिलें तो उसका वही मूल्य हो जाये जो बालूका है। मनुष्य-मनुष्यमें समानताकी अनुभूति तीव्र नहीं होगी, तबतक धनके सामने मनुष्यका मूल्य बढ़ेगा नहीं। धनी लोगोंको इसका अनुभव भी नहीं कि मनुष्यका कोई मूल्य नहीं है। धनी होकर जो कोई निर्धन हो जाता है, उसे इसका अनुभव होता है कि वास्तवमें मनुष्यका कोई मूल्य नहीं है। जो लोग धनी लोगोंको इसलिए सम्मान देते हैं कि उनके पास धन है, वे संग्रहको प्रोत्साहन देते हैं। इससे येन केन प्रकारेण धन कमानेकी वृत्तिको बढ़ावा मिलता है।

५. सामाजिकता वहीं स्वस्थ हो सकती है, जहाँ सामुदायिक जीवनके प्रति निष्ठा हो। वैयक्तिक स्वतन्त्रताका बहुत महत्त्व है पर वैयक्तिक स्वार्थ-साधनोंका स्थान बहुत नीचा है। वैयक्तिकता केवल धर्मकी साधनाके लिए ही उपयुक्त है। लगता है इस क्षेत्रमें उलटी गंगा बह रही है। आत्म-साधनाके क्षेत्रमें वैयक्तिकता होनी चाहिए, वहाँ सामुदायिकता हो रही है। वहाँ आदमी इस भाषामें सोचता है कि वे सब लोग सदाचारका पालन नहीं करते तब मैं अकेला ही क्यों करूँ? समाजके क्षेत्रमें सामुदायिकता होनी चाहिए, वहाँ व्यक्तिका चिन्तन यह होता है कि मैं दूसरोंकी — किन-किनकी चिन्ता करूँ, मुझे अपनी रोटी पका लेनी चाहिए।

भ्रष्टाचारके कारण बहुत स्पष्ट हैं। उनपर लम्बी-चौड़ी मीमांसाकी आवश्यकता नहीं है। सदाचारके आधार विकसित होंगे तो भ्रष्टाचार अपने-आप मिट जायेगा।

एक धार्मिक आदमी सोचता है, मुझे ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहिए, जिससे मेरी आत्माका पतन हो। यह सदाचारका धार्मिक आधार

है। एक आदमी सोचता है – मुझे ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहिए जिससे मेरे राष्ट्रको क्षति हो, यह सदाचारका राष्ट्रीय आधार है। इन दोनोंके मूल्य भिन्न-भिन्न हैं फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनके विकाससे भ्रष्टाचारकी जड़ें खोखली होंगी।

अनुशासनहीनता और जीवनके झूठे मानदण्डों और झूठी मान्यताओं-के परिवर्तनका दायित्व शिक्षा-संस्थान लें तो अनेक समस्याओंका स्थायी समाधान हो जाये। आत्म-जागरणके अभावमें ही सत्ता, पद और धनको अधिक मूल्य दिया जाता है। यह काम धार्मिक और मनोवैज्ञानिक संस्थानोंका है कि वे जनताकी हीन-भावनाको नष्ट करनेके लिए उपयुक्त वातावरण पैदा करें।

अणुव्रत-आन्दोलन व उसके जैसे दूसरे नैतिक-आन्दोलन नैतिक शिक्षण देने व सामाजिक कुरीतियोंको मिटानेके काममें वेग लायें। केन्द्रीय व राज्य सरकारें भी अपने दायित्वसे मुक्त नहीं हो सकतीं। महँगाई, ग़रीबी, क़ानूनी उलझनें, कण्ट्रोल आदि समस्याओंका निवारण उन्हींका विषय है।

भ्रष्टाचार इतना व्यापक हो गया है कि वह किसी एक धक्केसे गिरने-वाला नहीं है। सब संस्थान तीव्रतासे अनुभव करें कि यह स्थिति अवांछनीय है तभी सब ओरसे सामूहिक प्रयत्न हो सकते हैं। आजके चरित्रनिष्ठ लोग इसी प्रतीक्षामें हैं कि ऐसा हो और तत्परतासे हो।

■

सदाचारकी नयी लहर

सदाचारकी पुनः स्थापना इसपर निर्भर है कि दुराचारके कीटाणु विनष्ट हों। वे अनेक रूपोंमें जनताके मानसपर छाये हुए हैं। दुराचारके कीटाणुओंका एक रूप है विलास, दूसरा फ़िज़ूलखर्ची और तीसरा आवश्यकताओंको बढ़ाना है। इनका अस्तित्व धनके आधारपर ही टिक सकता है। इसीलिए अब लोग धनकी ओर दौड़ रहे हैं। भ्रष्टाचार उसी दौड़का एक परिणाम है। जबतक विलास, फ़िज़ूलखर्ची और आवश्यकताओंको बढ़ानेके स्थानपर सादगी, मितव्ययिता और आवश्यकताओंको कम करना – इनकी प्रतिष्ठा नहीं होगी तबतक सदाचारकी स्थापनाका काम बहुत कठिन होगा या कहा जा सकता है नहीं होगा। मेरी समझमें जीवनकी आवश्यकताओंको पूरा करनेवाले लोग उतने भ्रष्टाचारी नहीं हैं, जितने भ्रष्टाचारी वे लोग हैं, जिनके सामने जीवनकी आवश्यकताओंको पूरा करनेका प्रयत्न नहीं है। जो अनुचित साधनोंसे धन नहीं कमाता वह विवाहके मौक़ेपर फ़िज़ूलखर्ची कैसे कर सकता है? वह शराबके हज़ारों रुपयोंका मासिक बिल कैसे चुका सकता है? और भी अनेक प्रकारका इस कोटिका उपभोग कैसे कर सकता है और ऐसे काम किये बिना वह बड़ा आदमी कैसे बन सकता है? बड़प्पनका सम्बन्ध आज विलाससे जुड़ गया है। जिस आदमीके पास भोग-विलासकी अधिक क्षमता है, अधिक उपकरण हैं, वह बड़ा है और वह छोटा है, जिसके पास वे नहीं हैं।

जो छोटे हैं उनमें असन्तोष उभर गया है। उन्होंने यह समझ लिया है कि बड़ा होनेका अधिकार सबको है। उन्होंने भी वही मार्ग

चुना है जो कुछ बड़े कहलानेवाले लोगोंने चुन रखा था। जब सारे ही लोग उस मार्गपर चलने लगे हैं, तब वह समस्या विकट लगने लगी है। लोग सोचने लगे हैं कि यह मार्ग अच्छा नहीं है। इससे समाजका पतन हो जायेगा। इसे रोकना चाहिए। यह जागरणकी अच्छी बात है। इसका सही उपयोग किया गया तो सदाचारकी पौध अवश्य फले-फूलेगी। पन्द्रह वर्ष पूर्व सदाचारके क्षेत्रमें अणुव्रत-आन्दोलन अकेला था। आज चारों ओर सदाचारका स्वर गूँज रहा है। सब भले लोग यह चाहते हैं कि यह स्वर और अधिक प्रबल बने।

■

संयमकी साधना परिस्थितिका अन्त

मैं परिस्थितिवादका घोर विरोधी हूँ। आजके लोगोंका उस ओर सहज झुकाव है। लोग आते हैं, नैतिक विकासकी बातें चलती हैं। पहले-पहल सुननेको मिलता है – परिस्थितियाँ सुधरे बिना नैतिक विकास कैसे हो? मैं उन्हें कहता हूँ, इसका अर्थ यह हुआ कि परिस्थितियाँ सुधर जायेंगी, अनैतिकता बरतनेकी आवश्यकता नहीं होगी, तब आप नैतिक विकास करना चाहेंगे।

सारे दाँत गिर जानेपर सुपारी न खाने और मृत्यु-शय्यापर सोकर ब्रह्मचारी बननेकी बात जैसे हास्यास्पद है वैसे ही परिस्थितियाँ अनुकूल होनेपर नैतिक विकास करनेकी बात भी हास्यास्पद है।

चरचा आगे चलती है। वे अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं, मैं अपना अनुभव देता हूँ। आप स्वयं सोचें कि दोनोंमें कौन अधिक वास्तविक है। तर्क कोरा बुद्धिका व्यायाम है। वह आप भी कर सकते हैं और मैं भी कर सकता हूँ। पर अनुभव सत्यका निचोड़ है।

मुझे अनुभव है कि परिस्थितियोंके सामने घुटने टेकनेवाला गिरता है और उनसे लड़नेवाला उठता है, आगे बढ़ता है।

जैन मुनिके जीवनका मतलब ही है – परिस्थितियोंसे लड़ते रहना। मैं एक जैन मुनि हूँ। मेरे आचार्यने मुझे अपना दायित्व सौंपा, उसे भी वहन कर रहा हूँ। इसलिए परिस्थितियाँ मेरे सामने और अधिक विकट बनकर आती हैं। जीवनकी व्यक्तिगत बातों और पारिपार्श्विक उतार-चढ़ावोंको जाने दें। अणुव्रत-आन्दोलन भी मेरे सामने परिस्थिति रहा है।

आजसे दस वर्ष पहलेकी बात है। मैंने सोचा – जो तत्त्व हमें मिला

है वह सबके लिए हितकर है। संयमकी साधना की – हमें आनन्द मिला, शान्ति मिली। दूसरे लोग भी इसकी साधना करें तो उन्हें आनन्द और शान्ति क्यों न मिलेगी। लोग आनन्द चाहते हैं, शान्तिको प्यास है। सम्भव है, उन्हें मार्ग न मिल रहा हो। कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं, जो जान-बूझकर बुराई करें और अशान्ति पाते रहें। सब लोग वो ऐसे नहीं हैं। कुछ लोग बुराईको बुराई समझ लें तो उसे छोड़ भी सकते हैं। अच्छा हो हमारा अनुभव लोगों तक पहुँचे। पर पहुँचे कैसे? जीवन-भर पद-यात्राका व्रत, विद्युत्-प्रयोगका निषेध।

आखिर हमने इसका समाधान ढूँढ़ा कि लोग हमारे पास पहुँचें और हम उन तक पहुँचें। आपसमें विचार-विनिमय करें। उनके अनुभव लें और अपने अनुभव दें। कुछ लोग प्रेरणा पा मेरे पास आने लगे। प्रतिकूल परिस्थितिका ज्वार आया। कुछ मित्रोंने टिप्पणियाँ शुरू कीं – आचार्यश्रीके भक्त-सेठोंने थैलियोंका मुँह खोल रखा है। उनके बलपर बड़े-बड़े आदमियोंको लाया जा रहा है और उनसे प्रशस्तियाँ लिखा या बुलवाकर महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी की जा रही हैं आदि-आदि।

हम मौन रहे; उन तथ्यहीन आलोचनाओंको पीते रहे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रमुख-प्रमुख व्यक्तियोंसे मिलना और उनके मनोभावोंको जानना हमारा लक्ष्य था। बात रही आने-जानेकी। हम रहे पद-यात्री। हमारे लिए दुनियाकी दूरी वही है जो पहले थी। कब और कैसे कहाँ पहुँच पायें। गृहस्थियोंके लिए इस वैज्ञानिक युगमें दुनिया बहुत छोटी हो गयी है। हमारी अशक्यताको ध्यानमें रख यदि प्रमुख व्यक्ति हमारे पास आते तो वह कौन-सा दोष था! हमारे अनुभव उनको भाते तो प्रशंसा भी करते। उसका सम्बन्ध उनकी मनोवृत्तिसे था या हमसे?

प्रारम्भिक स्थितिका अध्ययन कर अणुव्रत-आन्दोलन शुरू किया। उसके इतने व्यापक रूपकी कल्पना हमारे मनमें नहीं थी। हमने सोचा, चलो, कुछ भी नहीं होनेकी अपेक्षा कुछ भी हो; यही अच्छा है।

अणुव्रतका द्वार सबके लिए खुला था। यह भी एक परिस्थिति बन गयी। कुछ मेरे ही अनुयायी इसका विरोध करने लगे। उनका प्रचार-सूत्र यह बना कि आचार्य जी जैन और अजैन सबको अणुव्रती बना रहे हैं, स्पृश्य और अस्पृश्यको एक धागेमें पिरो रहे हैं। हम उसे भी सुनते रहे। थोड़ा समय बीता। हमारे साधु भी लोगोंके पास पहुँचने लगे। उसका भी विरोध हुआ। एक व्यक्तिने मुझसे कहा, हमारे साधु घर-घर जाते हैं, इससे उनका गौरव घटता है। मैंने उनसे कहा – हमारे पूज्य आचार्य भिक्षु स्वामीने दूकान-दूकानपर साधुओंको भेजा था, मैं उसे आदर्श मानकर चलता हूँ।

किसीने कहा, कुआँ प्यासेके पास नहीं जाता है, प्यासा कुएँके पास आता है। मैंने कहा, कभी यह भी हुआ होगा। आजके कुएँ भी प्यासोंके पास जाते हैं। देखिए न, घर-घरमें नल लगे हुए हैं।

अणुव्रतका कार्य आगे बढ़ा। जन-साधारणने इसे आवश्यक माना तो हमारी शक्ति इस ओर अधिक लगी। इसने एक नया ऊहापोह खड़ा किया। हमारे जैन भाई कहने लगे, आचार्यजी जैन बननेपर बल नहीं देते। तेरापन्थके प्रचारकी गति शिथिल कर दी। मैं उन्हें कहता रहा कि जैन, बौद्ध और वैदिक सम्प्रदाय हैं। धर्म है अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। मैं धर्मके मौलिक स्वरूपके प्रति जन-मानसमें आस्था भरना चाहता हूँ। क्या अहिंसाके सिवा जैन-धर्मका कोई अस्तित्व है? अहिंसाका प्रसार क्या जैन-धर्म और तेरापन्थका प्रसार नहीं है? अहिंसा और जैन-धर्मके द्वैतकी मान्यताको मैं मानसकी सिकुड़न मानता हूँ।

एक ओर यह अन्तरका विरोध था तो दूसरी ओर इसका उलटा प्रवाह चला। अजैन क्षेत्रोंमें यह चरचा तीव्र होने लगी कि आचार्यजी अणुव्रत-आन्दोलनके जरिये सबको जैन बनाना चाहते हैं। यह आन्दोलन साम्प्रदायिक है। हम दोनों स्थितियोंको आश्चर्यके भावसे पढ़ते रहे।

कुछ लोगोंके सुझाव आये कि यह आन्दोलन बहुत आवश्यक है।

इसका प्रचार सतत और तीव्र गतिसे होना चाहिए। कुछ लोगोंने यह प्रचार किया कि आचार्यजीको प्रशंसाकी भूख जाग गयी है। वे अणुव्रत-आन्दोलनके बहाने अपना सिक्का जमाना चाहते हैं। इसे भी हम सुनते रहे।

हमने सोचा यह नैतिकताका आन्दोलन है इसलिए इसका मार्ग-दर्शन मैं ही करूँ तो अच्छा रहेगा पर यह भी निर्विवाद नहीं रह सका। चरचा चली कि यह गृहस्थोंका पन्थ है, इसका नेतृत्व आचार्यजी कैसे कर सकते हैं? साधुओंको इन प्रवृत्तियोंसे निर्लिप्त रहना चाहिए। मैंने इस स्थिति-को भी सँभाला। लोगोंको समझाया कि मैं असंयमका नेतृत्व नहीं कर रहा हूँ। संयमका नेतृत्व साधु लोग भी नहीं करेंगे तो क्या राज-नयिक करेंगे? वे नियन्त्रण कर सकते हैं पर संयमके प्रेरक नहीं बन सकते। संयमकी प्रेरणा वे ही दे सकते हैं जो स्वयं संयत हों। छोटोंके दिलमें भ्रान्तिका बीज बड़ोंके असंयमने ही तो बोया है।

अणुव्रत-आन्दोलनका कार्य आगे बढ़ा। छुटपुट प्रश्न स्वयं धुल गये। चरचाका स्तर कुछ बदला। चिन्तनशील व्यक्तियोंने कहा, भगवान् महावीर हुए, भगवान् बुद्ध हुए, महात्मा गान्धी हुए, वे ही विश्वको नैतिक नहीं बना सके तो अब आप क्या उसे नैतिक बना देंगे? मैंने कहा, मैं कब दावा करता हूँ कि समूचे विश्वको मैं नैतिक बना दूंगा। नैतिकताकी लौ किसी-न-किसी रूपमें जलती रहे — मेरा प्रयास इतना ही है। अनै-तिकता नैतिकताको निगल जाये — यह वेला विश्वके लिए बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण होगी।

अहिंसाका घोष हजारों वर्षोंसे होता रहा है पर हिंसाका साम्राज्य आज भी ज्योंका-त्यों है। हिंसाके कारणोंको मिटाये बिना अहिंसा सफल नहीं हो सकती। इस विचारने भी हमारे चिन्तनको आगे बढ़ाया। हमें लगा कि आजका मानस हर वस्तुको भौतिकताकी कसौटीसे कसता है। जो तत्त्व सामाजिक सुख-सुविधा न दे सके वह असफल माना जाता है।

अहिंसाके द्वारा जीवनकी आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं इसलिए वह असफल है। चिन्तनकी यह रेखा भूलके बिन्दुओंसे बनी है और बनती जा रही है। व्यवस्था और अहिंसाके परिणामोंको एक तुलासे तोलना अपने-आपमें बड़ी भूल है। व्यवस्थाका परिवर्तन शक्ति या सत्तासे हो सकता है, यह समाजवादका मूल है। हृदयका परिवर्तन अहिंसासे ही होता है, इसका मूल व्यक्ति है। एक साथ सबको मनवानेकी बात अहिंसाके क्षेत्रमें नहीं है। मूल सुधारकी पद्धति यही है कि व्यवस्थाको व्यवस्थाकी दृष्टिसे और अहिंसाको अहिंसाकी दृष्टिसे सोचा जाये।

कुछ गम्भीर चिन्तनके स्रोतसे ऐसा उच्छ्वास मिला कि अणुव्रत-आन्दोलन जड़की बात नहीं करता, वह केवल ऊपरको छूता है। हमने सोचा जड़की बात फिर क्या है? क्या आर्थिक स्थितिका सुधार ही जड़की बात है? हिंसाके सामने अहिंसात्मक भावनाका वातावरण पैदा करना क्या जड़की बात नहीं है? जीवनकी आवश्यकता सुविधा हो वैसी सुविधासे मेरा विरोध नहीं है। आर्थिक व्यवस्थाका सुधार ही अहिंसाका मूल है— इससे मेरा विरोध है। आर्थिक-दृष्टिसे सम्पन्न राष्ट्र आज कितने अशान्त और उलझे हुए हैं। भारतकी स्थिति उनसे सर्वथा भिन्न है, यद्यपि वह अर्थ-व्यवस्थाका सन्तुलन समाधान नहीं पा सका है।

अनाक्रमण, शान्ति और अपने अधिकार क्षेत्रमें सन्तुष्ट रहनेकी जो भारतीय-मानसकी शर्त है वह अहिंसाकी चिरकालीन परम्पराका ही तो परिणाम है।

समाजके मुखिया यदि सामूहिक हितकी व्यवस्था और अहिंसामें विश्वास रखनेवाले संयमके माध्यमसे समाजको बदलना चाहें तो वैयक्तिक स्वार्थ और रक्त-क्रान्ति दोनों प्रयोजन-शून्य बन जाते हैं।

मेरी धारणामें परिस्थितिका अनुगमन समाजकी मानसिक दुर्बलताका रेखाचित्र है। एकके बाद दूसरे प्रकारमें परिस्थिति रहेगी ही। उसके अन्तकी कल्पनाके चरणमें नैतिकताकी रेखा न ढूँढ़ें। उसका मूल संयममें है।

संयमके विकासका मतलब है परिस्थितिकी विजय। मैं फिर साफ़ कर दूं कि परिस्थितिके आवश्यक संशोधनमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है, पर उसके प्रभावसे मुक्ति उसे जीतनेकी क्षमता उत्पन्न होनेपर ही सम्भव है। अणु-व्रत-आन्दोलनका लक्ष्य यही है। अपना मोड़ बदलें, फिर परिस्थितिके दास आप नहीं होंगे, उसे स्वयं आपकी अधीनता मान्य होगी।

■

भावात्मक एकता और स्वभाव-निर्माण

इन पन्द्रह वर्षोंमें बड़ी तीव्र अनुभूति हुई है कि एकताके बिना सुव्यवस्था नहीं हो सकती, अनुशासन और चिन्ता-मुक्तिमें स्थायित्व नहीं आ सकता। इनके बिना जीवनका स्थिर-विकास नहीं हो सकता। भारतके प्रमुख व्यक्ति एकताके लिए चिन्तित हैं, वह स्वाभाविक है। पर चिन्ता मात्रसे कोई काम नहीं बनता। प्रत्येक कार्य उपायसे सधता है। एकताके उपाय खोजे जा रहे हैं। यह आवश्यक भी है। अनक लोग अनेक उपाय ढूंढ़ते हैं, वहाँ कोई-न-कोई समाधान मिल ही जाता है।

मैं एकताके लिए स्वभाव-परिवर्तनको बहुत अधिक महत्त्व देता हूँ। अनेकता और एकता ये दोनों मानवीय स्वभावमें फलित होती हैं। प्रादेशिक, भाषाई, जातीय आदि भेद होनेपर भी एकता हो सकती है और वे भेद न होनेपर भी एकता नहीं हो सकती है। इसका हेतु स्वभावकी विविधता है। एकता और अनेकताका प्रश्न तात्कालिक नहीं है और इसका समाधान भी तत्काल नहीं हो सकता। इसका स्थायी समाधान पानेके लिए हमें मानवीय स्वभावके निर्माणकी ओर विशेष ध्यान देना होगा।

असहिष्णुता, निरपेक्षता और अनुदारता – ये तीन मनुष्य स्वभावकी दुर्बलताएँ हैं। अनेकता इन्हींसे उत्पन्न होती है। एकताके लिए यह अपेक्षित है कि मनुष्य स्वभावमें सहिष्णुता, सापेक्षता और उदारता – ये तत्त्व पुष्ट हों।

मनुष्यका स्वभाव बदलता है और बदल सकता है – इस सम्भावना-को लक्षित कर एक राष्ट्रीय अभियान होना चाहिए। सारी शिक्षा-

दीक्षामें इन तीनोंको अधिक महत्त्व मिलना चाहिए।

बौद्धिक और वैज्ञानिक विकासकी ओर जितना ध्यान दिया जाता है उसके चतुर्थांशमें भी व्यक्ति-विकासकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता। पर चिन्तनीय यह है कि बौद्धिकता और वैज्ञानिकताके लिए मनुष्य है या मनुष्यके लिए बौद्धिकता और वैज्ञानिकता ? मनुष्य-का स्वभाव छोटा हो रहा है और बौद्धिक स्तर अधिक ऊँचा हो गया तो इसे खतरा ही कहा जायेगा। बौद्धिक विकास स्वभावकी उच्चताके साथ होता है तभी वह निर्माणकारी होता है, अन्यथा वह ध्वंसकारी बन जाता है।

भारत जो आध्यात्मिक देशके रूपमें प्रख्यात है, उसकी जनताका स्वभाव शेष देशोंकी जनतासे कुछ विलक्षण होना चाहिए। जो लोग पदार्थ-विकासमें विश्वास करते हैं, वे असहिष्णु हो सकते हैं। जो लोग शस्त्र-शक्तिमें विश्वास करते हैं, वे निरपेक्ष हो सकते हैं। जो लोग अपने लिए दूसरोंके अनिष्टको क्षम्य मानते हैं, वे अनुदार हो सकते हैं। किन्तु भारतीय मानसकी विलक्षणता रही है। उसने पदार्थको आवश्यक माना पर उसे आस्था-केन्द्र नहीं माना। शस्त्र-शक्तिका सहारा लिया पर उसमे त्राण नहीं देखा। अपने लिए दूसरोंका अनिष्ट हो गया तो उसे क्षम्य नहीं माना। उसका प्रायश्चित्त किया। यह विलक्षणता अहिंसाकी चिरकालीन परम्परासे उपलब्ध है। इन कुछ शताब्दियोंमें अहिंसाकी परम्परा और वह विलक्षणता दोनों कुछ निष्प्राण हुई हैं। आज उन देशोंमें जो भौतिक दौड़में लगे हुए हैं, जितनी राष्ट्रीय एकता है, उतनी भारतमें नहीं है। उनमें जो एकता है वह एक ही दिनके प्रयत्नका परिणाम नहीं है। वर्षोंके सतत प्रयत्नके बाद वे इस स्थितिमें पहुँचे हैं। हमारे यहाँ ऐसा कोई सामुदायिक प्रयत्न नहीं है। स्वभाव-निर्माणके प्रयत्नको हमारे बहुत सारे विचारक रचनात्मक काम ही नहीं मानते। मेरी दृष्टिमें यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे अभीसे अधिक प्राथमिकता मिलनी चाहिए। हर व्यक्ति, समाज या

राष्ट्र शक्तिशाली बनना चाहता है, विकास करना चाहता है। अलगावके वातावरणमें कोई शक्ति-संचय नहीं कर सकता, विकास भी नहीं कर सकता। ये दोनों कार्य एकताकी स्थितिमें ही सम्भव हैं।

आपसी संघर्ष क्षण-भरके लिए सुखद प्रतीत होते हैं। उनके द्वारा जातीय, प्रान्तीय या भाषाई हित सधता-सा लगता है पर उनका परिणाम हितकर नहीं होता। उनसे आर्थिक स्थिति क्षीण हो जाती है। सन्देह और भयके वातावरणमें विकास ठप्प हो जाता है। अनेकताके दुष्परिणाम और एकताके सुपरिणाम जब संस्कारगत होते हैं, तभी एकताका विकास होता है और अनेकताका ध्वंस। आज एकताकी चरचा है पर उसका संस्कार नहीं है। शताब्दियोंसे अनेकताके संस्कार पल रहे हैं। आजकी चरचा, भावना या शिक्षा आज ही संस्कार नहीं बन जाती है। पर सतत प्रयत्न रहता है तो एक दिन निश्चित ही वह संस्कार बन जाती है। अनेकताके बीज बोनेवाले उसके उतने दुष्परिणाम नहीं देखते, जितने भावी पीढ़ी देखती है। एकताके लिए भी यही बात है। आज जो प्रयत्न होगा वह अगली पीढ़ीमें सहज संस्कार बन जायेगा।

मैं अणुव्रत आन्दोलनको मानवीय स्वभावके परिवर्तनका माध्यम मानता हूँ। व्रतका स्वभाव अव्रतसे भिन्न होता है। भिन्नता यही कि व्रतकी पृष्ठभूमिमें दृष्टिकोण सम्यक् होता है और अव्रत मिथ्या दृष्टिकोणके आधार-पर पलता है। बुराईको बुराई नहीं माननेवाला जितनी और जितने काल तक बुराई कर सकता है, उतनी और उतने काल तक बुराईको बुराई माननेवाला नहीं कर सकता।

अधिकांश संघर्ष आवेगवश होते हैं। बहुत लोग नहीं जानते कि आवेग बुरा होता है। उन्हें कब सिखाया जाता है कि आवेग बुरा होता है? यह बहुत बड़ा दोष है कि हमारी शिक्षा-पद्धति आध्यात्मिक नहीं है। जिन राष्ट्रोंने एकताको पुष्ट किया है, उनकी शिक्षा-पद्धति आध्यात्मिक रही है। यहीं आपको चिन्ता होगी। पर मैं नहीं मानता कि आध्यात्मिक

नाम देनेसे कोई शिक्षा आध्यात्मिक होती है। जहाँ मनुष्यके चरित्र, व्यवहार और स्वभावके परिमार्जनको मूल्य दिया जाता है, वहाँ आध्यात्मिकता सहज ही झलक पड़ती है। चरित्र-निर्माणके प्रशिक्षणके बिना कोई भी राष्ट्र सुसंस्कृत बना हो, यह नहीं लगता।

अणुव्रत-आन्दोलन जैसे दूसरे-दूसरे जो चारित्रिक संस्थान हैं, वे तथा सारे विद्यापीठ भी चरित्र, व्यवहार और स्वभावके परिमार्जनका प्रशिक्षण दें, तो थोड़ी अवधिमें ही एकताका परिपाक हो सकता है। बौद्धिक विकास, खेलकूद आदिका प्रशिक्षण मिलता है, वैसे मानसिक विकास और स्वभाव-निर्माणका प्रशिक्षण नहीं मिलता। यदि आजका हिन्दुस्तान अनैक्यकी आर्त गवेषणासे व्यथित है तो उसे शीघ्र ही सहिष्णुता, सापेक्षता और उदारताके प्रशिक्षणकी ओर ध्यान देना चाहिए।

■

प्रवाहको बदलिए

साधारण आदमी प्रवाहके पीछे-पीछे चलता है। वह उसे मोड़ नहीं सकता। उसे वही मोड़ सकता है, जो असाधारण हो। आज असाधारणता सत्ता और पैसेमें केन्द्रित हो रही है। जिनके हाथोंमें सत्ता है, वे लोग चाहते हैं कि जन-साधारण भ्रष्टाचार न करे, सीधा-सादा जीवन बिताये। पैसे-वाले लोग भी यदा-कदा सादगीका बखान करते रहते हैं। किन्तु जन-साधारण इन बातोंपर कोई ध्यान नहीं देता। एक आदमी येन-केन प्रकारेण सत्ता हथियाकर बड़ा आदमी बन जाता है तब दूसरा आदमी भी यही सोचता है कि बड़ा बननेका यह रास्ता है जिसपर वह चल रहा है, वह नहीं है जो वह बता रहा है। एक आदमी भ्रष्ट तरीक़ोंसे धन कमाकर बड़ा आदमी बन जाता है, तब दूसरा यही सोचता है कि ऐसा करके ही कोई आदमी बड़ा बन सकता है। यह एक सामान्य प्रवाह है। इसे मोड़ दिये बिना भ्रष्टाचारका अन्त लाना कठिन हो रहा है।

प्रवाहको मोड़नेके लिए जीवनके मूल्योंको बदलना होगा। बड़प्पनको वहाँ प्रतिष्ठित करना होगा, जहाँ सत्ता और पैसा प्रधान नहीं है, किन्तु उनका त्याग प्रधान है। बड़ा वह भी नहीं है, जिसमें सत्ता और पैसा पानेकी क्षमता ही न हो और बड़ा वह भी नहीं है, जो भ्रष्ट उपायोंसे सत्ता और पैसा हथिया ले। बड़ा वह है जो क्षमता रखते हुए भी सत्ता और पैसा पानेके लिए भ्रष्ट उपायोंका आलम्बन न ले। ऐसा आदमी ही प्रवाहको नया मोड़ दे सकता है।

प्रवाहको मोड़ वह दे सकता है जो समर्थ होते हुए भी सादा जीवन बिताये। बड़प्पन और सादा जीवन दोनों एक साथ हों तो जनता उसका

अनुसरण कर सकती है। बड़े कहलानेवाले लोग विलासी जीवन बितायें तो जनता उसी ओर दौड़ेगी। उसे हजार प्रयत्न भी नहीं रोक सकते। मैं बहुत दिनोंसे यह अनुभव कर रहा हूँ कि प्रवाहको मोड़नेके लिए बड़े लोगोंको आगे आना चाहिए। जो बड़े कहलाते हैं वे जैसे हैं वैसेके वैसे ही बने रहें और छोटे लोगोंसे यह आशा करें कि वे सदाचार, सन्तोष, सादगी, त्याग और निःस्वार्थभावको बढ़ायें यह दिवा-स्वप्न है।

प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्रीने बड़ी कारका उपयोग छोड़ दिया है, वे भारतकी बनी हुई छोटी कारका उपयोग करेंगे ऐसा समाचार पत्रोंमें पढ़ा है। यह जटिलतासे सरलताकी ओर एक क़दम हो सकता है पर चालू प्रवाह इतना शक्तिशाली हो गया है कि उसे मोड़नेके लिए आजका समय ऐसे सैकड़ों क़दम उठानेकी प्रतीक्षामें है।

पंजाबके मुख्यमन्त्री रामकिशन छोटेसे मकानमें रहते हैं, रिक्शामें बैठकर चले जाते हैं, ऐसा सुना है। इससे लगता है कि उनमें कृत्रिम बड़प्पनसे दूर रहने और चालू प्रवाहके प्रतिकूल चलनेका साहस है। इस साहसने पंजाबमें एक नये वातावरणकी सृष्टि की है। त्याग कठिन अवश्य है पर उससे सफलता इतनी मिलती है कि आदमी कल्पना भी नहीं कर सकता।

अनावश्यक वस्तुओंकी बाढ़ और आवश्यक वस्तुओंकी कमीने जीवन-को सचमुच जटिल बना दिया है। इस परिस्थितिको नियन्त्रण या क़ानूनके बलपर नहीं मिटाया जा सकता है। एक ओर भारतीय संस्कृति दर्शन और मानवीय मूल्योंकी अमूल्य धारा रोटीकी कठिनाईमें सिमटती जा रही है। दूसरी ओर सत्ता और पैसेकी दुनियाके प्रांगणमें अनावश्यक वस्तुओंका खुलकर भोग हो रहा है। यह दशा आश्चर्यजनक ही नहीं दयनीय भी है। यह तो और भी अधिक दयनीय है कि ऐसी स्थितिमें सत्ता, पद और शक्तिका दुरुपयोग हो। शासन-तन्त्रके अधिकारी वर्गमें रिश्वतका चक्र चले, व्यापारी वर्गमें जमाखोरी और मुनाफ़ाखोरीका चक्र चले। आखिर

हर चीजकी सीमा होती है। अब यह स्थिति सीमा तक पहुंच गयी है। अब सँभल जाना ही श्रेयस्कर है। अब युग उन व्यक्तियोंकी प्रतीक्षा कर रहा है, जिनमें साहस हो और जो प्रवाहको नया मोड़ दे सकें।

■

बड़े लोग पहल करें

समाज और अनुशासनमें परस्पर सम्बन्ध है। अनुशासनहीन समाज हड्डियोंका ढांचा-भर होता है। अनुशासनके दो अंग हैं – हृदयकी पवित्रता और दण्ड। पहला व्यक्तिका चरित्र-विकास है और दूसरा राजनैतिक कर्म। जनताका हृदय पवित्र हो तो दण्डप्रयोगकी आवश्यकता कम होती है अन्यथा अधिक। जहां कोरा दण्ड ही दण्ड चले, वह राष्ट्र स्वस्थ नहीं रह सकता। सामुदायिक रूपसे पर्याप्त हृदय-शुद्धि हो जाये, यह भी कठिन काम है। इस स्थितिमें हृदय-शुद्धि और दण्ड यह दोनों चलते हैं।

दण्ड-नीतिके विषयमें कौटिल्यका अभिमत है – "कठोर-दण्ड देनेवाला शासन जनतामें क्षोभ उत्पन्न करता है। मृदु दण्ड देनेवाले शासनकी जनता अवहेलना कर देती है। उचित दण्ड देनेवाले शासनके प्रति जनता नत होती है। जो शासन दण्डका समुचित प्रयोग करता है वह जनताको धर्म, अर्थ और काममें युक्त करता है। और जो अनुचित प्रयोग करता है, वह गृहस्थोंमें ही नहीं, अपितु परिव्राजकोंमें भी विद्रोहकी भावना पैदा कर देता है।"

दण्ड-नीतिकी यह सन्तुलित व्याख्या है। वह शासन सबसे अच्छा होता है, जिसे विशेष दण्डका प्रयोग न करना पड़े। वह समाज भी उन्नत होता है जिसे दण्ड न झेलना पड़े। ये दोनों बातें हृदयकी पवित्रताका विकास होनेपर ही हो सकती हैं। हम अपना आत्म-निरीक्षण करें कि हृदयकी पवित्रताकी ओर हमारा कितना ध्यान है?

जीवनका निर्माण बचपनसे ही शुरू हो जाता है। बच्चोंको हृदयकी

पवित्रताका उतना मूल्य नहीं समझाया जाता जितना दूसरी चीजोंका समझाया जाता है। जीवन-कलाका व्यवहार क्षेत्र युवावस्था है। युवकों-को हृदयकी पवित्रताको उतनी प्रेरणा नहीं मिलती, जितनी उसे अपवित्र बनानेकी मिलती है। इस वातावरणमें राष्ट्रीय-चरित्रका पतन होता है।

जनतन्त्रमें शासन-तन्त्र भी जनतासे बहुत अपेक्षाएँ रखता है। वह तानाशाही-जैसा कठोर नहीं हो सकता। कठोरताके बिना अपराधों और अनियमितताओंका निराकरण नहीं हो सकता। अतः उसके लिए दूसरा मार्ग रहता है, हृदय-शुद्धिका।

शासकोंके लिए भी

हृदय-परिवर्तनका जो प्रश्न है, वह केवल साधुओंके लिए ही महत्त्व-पूर्ण नहीं है किन्तु शासक-वर्गके लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। असदाचारके कारण इतने बहुमुखी हैं कि उनका निवारण सबके सम्मिलित प्रयत्नसे ही हो सकता है। कुछ लोग कहते हैं – चरित्र-विकास करना तो आप-जैसे महात्माओंका ही काम है। मैं मानता हूँ इस दिशामें प्रयत्न करना हम लोगोंका काम है पर उसकी सफलता सबके सहयोगपर निर्भर है। चरित्र-पतनके कारणोंपर जनता और सरकार ध्यान न दे तब हमारा प्रयत्न उतना कामयाब नहीं हो सकता। हमारा प्रयत्न, सरकारकी स्वस्थ कार्य-पद्धति और जनताकी तड़प इन तीनोंका योग मिले तभी पूर्ण सफलताकी आशा की जा सकती है।

नैतिक समस्या

सरकार और समस्याओंपर जितना ध्यान देती है उतना ध्यान नैतिक-समस्यापर, जो कि बहुत मौलिक समस्या है, नहीं देती। क्या शासन-तन्त्रमें कोई ऐसा विभाग आवश्यक नहीं जो राष्ट्रकी नैतिक या चारित्रिक स्थितिकी देखभाल करे? अशोककी शासन-व्यवस्थामें एक धर्ममहामात्र होता था। वह धर्मसम्बन्धी मामलोंकी देखभाल करता था।

विनय-चरित्रकी देखभालके लिए भी एक अधिकारी होता था। आज शायद वैसा कोई अधिकारी नहीं है। सब विभाग अपने काममें इतने व्यस्त हैं कि उन्हें देशकी चारित्रिक चिन्ता करनेका अवकाश भी नहीं है।

गृहमन्त्री नन्दाजीने सदाचारके विकासकी आवाज उठायी पर वे भी अपने काममें इतने व्यस्त हैं कि इस कामके लिए पूरा समय नहीं निकाल पाते। कोई भी प्रयत्न पूरी निष्ठा, शक्ति और एकाग्रताके बिना सफल नहीं हो सकता। इस स्थितिमें वैसा विभाग और अधिक अपेक्षित लगता है। मैं नहीं समझता कि अबतक इस अपेक्षाकी पूर्ति क्यों नहीं हुई?

असदाचार अपनी जड़ें गहरी जमा चुका है। वह झोंकोंसे हिलनेवाला नहीं। उसे हिलानेके लिए शक्तिशाली वातावरण बनाना आवश्यक है। उसे ऊपरके लोग ही बना सकते हैं। वे इस दिशामें पहल करें। अपने व अपने आस-पासके वातावरणको इतना विशुद्ध बनायें कि कोई उसपर अँगुली न उठा सके।

अपनी पार्टी, अपना पक्ष आदि बातोंसे ऊपर उठे बिना असदाचारको मिटानेका स्वप्न निरा स्वप्न है। असदाचारका अन्त उसी दिन होगा जब मानवताका प्रश्न सत्तासे ऊँचा होगा।

■

बड़ा और छोटा

हिंसासे हिंसा बढ़ती है और बैरसे बैर बढ़ता है – इस शाश्वत सत्यसे मनुष्य हजारों वर्षोंसे परिचित है। फिर भी हिंसा और बैरकी पुनरावृत्ति क्यों हो रही है? यह एक रहस्यमय प्रश्न है। प्रश्न गम्भीर अवश्य है पर अजेय नहीं है। जो व्यक्ति एक बार हिंसाके क्षेत्रमें उतर जाता है, वह फिर सहज ही उससे बाहर निकल नहीं पाता। उसे चारों ओर वही दिखाई देती है – हिंसा, हिंसा।

आत्म-दर्शी मुनियोंने जो कहा – सब जीवोंको आत्मतुल्य समझो, उसका आशय यही तो है कि किसीकी उपेक्षा मत करो, तिरस्कार मत करो, घृणा मत करो। तुम्हारी उपेक्षा सन्देहको जन्म देगी। जो सन्दिग्ध होगा वह सहिष्णु नहीं होगा। असहिष्णुता होती है, एक दूसरेको सहन करनेकी क्षमता नहीं होती, वहाँ कोई अभय नहीं हो पाता। अभयके बिना शान्ति नहीं होती। यह हिंसाका चक्र है, जो आगेसे आगे बढ़ता चला जाता है।

आज जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें हिंसा उत्तेजित हो रही है। प्रान्त, भाषा, राष्ट्र आदि विभाग जो मनुष्य-समाजकी सुविधाके लिए हैं, वे ही उसके लिए भय-जनक हो रहे हैं। यह क्यों नहीं समझा जाता कि मनुष्य उनके लिए नहीं है, वे मनुष्यके लिए हैं। अर्थके लिए मनुष्य नहीं है, वह मनुष्यके लिए है, यह भी नहीं समझा जा रहा है। वर्तमान जीवनकी ये बड़ी गुत्थियाँ हैं, जो राजनीतिके हाथोंमें उलझती चली जा रही हैं। इन्हें सुलझानेका सरल या कठिन जो कोई उपाय है, वह व्रत है। सम्यग् दृष्टिकोण और अपनेपर अपना नियन्त्रण है – यही है अहिंसा।

आज इसकी सर्वाधिक आवश्यकता है। इसी प्रेरणाको जागृत करनेके लिए अणुव्रत-आन्दोलन-द्वारा अहिंसा-दिवस मनाया जाता है। जो लोग बड़े हैं, मेरी भाषामें बड़े वे हैं, जो अपने लिए व्रतोंको स्वीकार करना आवश्यक नहीं समझते, वे अपने निर्णयपर पुनर्विचार करें। मेरी भाषामें छोटे वे हैं, जो वर्तमान परिस्थितियोंमें व्रतोंको स्वीकार करना असम्भव मानते हैं, वे भी अपने निर्णयपर पुनर्विचार करें। जो लोग व्रती — न बड़े हैं और न छोटे हैं — वे अपने अनुभवोंसे दूसरोंको लाभान्वित करें, अहिंसाके सन्देशको आगे बढ़ायें।

■

रुचि-भेद और सामंजस्य

जितने व्यक्ति हैं, उतने मानस हैं। जितने मानस हैं, उतनी रुचियाँ हैं। वे सब पूर्ण हों यह सम्भव नहीं और पूर्ण न हों तो विग्रह होना असम्भव नहीं। इन दोनोंके बीचका मार्ग सामंजस्य ही है। अनेकता है और असामंजस्य है वहाँ निश्चित ही द्वन्द्व है। जहाँ सामंजस्य है वहाँ अनेकता भी एकतामें परिणत हो जाती है। सामंजस्यका आधार है सहिष्णुता। वही परिवार-संस्थाका आधार है। मनुष्य जीवनका सबसे बड़ा रोग है आवेग। उसपर विजय पाये बिना कोई भी व्यक्ति सहिष्णु नहीं हो सकता। ऐसा कोई हो नहीं सकता, जिसे कोरी प्रियता ही मिले। और ऐसा भी कोई नहीं होता जिसका मनचाहा ही हो। उस स्थितिमें मनुष्य कलह-प्रिय बनता है। सहिष्णुतामें स्वर्ग अवश्य है पर उसकी सिद्धि प्रयत्नलभ्य है। असहिष्णुता सहज है, वह समय-समयपर नारकीय दृश्य उपस्थित करती है फिर भी बहुजन समादृत है। बहुत लोग मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्तिकी आत्मा समान है, सुख-दुःखकी अनुभूति भी समान है; स्वतन्त्रता प्रिय है; अपनी-अपनी रुचि-पूर्तिकी भावना सबमें ही रहती है, फिर भी वे दूसरोंकी रुचि-पूर्तिमें बाधक बन जाते हैं। उसकी प्रतिक्रिया होती है और जो दूसरे हैं वे उनकी रुचि-पूर्तिमें बाधक बनते हैं। इस प्रकार यह श्रृंखला अनन्त हो जाती है। जिन्हें सापेक्ष-दृष्टि प्राप्त नहीं वे इस समस्याको कभी नहीं सुलझा सकते।

परिवार और क्या है? समन्वय-दृष्टिका बहुत बड़ा उदाहरण। एक दूसरा एक-दूसरेके जीवनमें विघ्न बने बिना रहता है। जहाँ सापेक्षता बहुत स्पष्ट होती है, वहाँ सही अर्थमें परिवार बनता है। सामूहिक

जीवनमें दोनों स्थितियाँ पनप सकती हैं। प्रेम भी और कलह भी। सहिष्णुता, सापेक्षता और उपेक्षा ये तीनों होते हैं, वहाँ प्रेम पनपता है, आलम्बन पुष्ट होता है। जहाँ असहिष्णुता, निरपेक्षता और हस्तक्षेप होते हैं, वहाँ कलह पनपता है। हमारा गण भी एक परिवार है। छह सौ-सात सौ व्यक्ति एक समुदायमें रहते हैं। पाँच सौ एकत्र भी हो जाते हैं। चार सौ साध्वियाँ एक मकानमें रहती हैं। यदि सापेक्षता न हो तो काम कैसे चले? पर सापेक्षता तभी रह सकती है, जब कि व्यवस्था हो। अधिकांश विग्रह व्यवस्थाके अभावमें ही होते हैं। लोग समझते हैं—प्रेम है फिर व्यवस्था किसलिए? यह नहीं सोचते कि प्रेम इसीलिए टूटता है कि व्यवस्था नहीं होती।

सहिष्णुता चिन्तनकी परिणति है। विवेक उद्‌बुद्ध होता है। सबपर भरोसा होता है। सबकी स्वतन्त्र सत्तामें विश्वास होता है। सहिष्णुता स्वयं पनप जाती है। हस्तक्षेपकी प्रवृत्ति प्रायः विग्रह उत्पन्न करती है। क्वचित् वह उपयोगी हो सकता है। उसे दैनिक प्रवृत्तिका रूप देना उचित नहीं। पूज्य कालूगणी और मन्त्री मगनलालजी स्वामी दोनों अभिन्न हृदय थे। कुछ रुचियाँ दोनोंकी भिन्न थीं। वे जीवन-भर साथ रहे। किसीने भी किसीकी रुचिमें हस्तक्षेप नहीं किया। प्रेम कभी नहीं टूटा। पारिवारिक-जीवनका यह बहुत बड़ा मन्त्र है। मैं तो समूचे विश्व-को एक परिवार मानता हूँ। जो स्थिति दोमें उत्पन्न हो सकती है वह सौमें भी हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति सौ में रहकर भी जो अकेला रह सकता है और अकेला रहकर भी सौमें रह सकता है, वही मनस्तोष पा सकता है। बहुत्वमें एकत्व (निरपेक्षता या तटस्थता) और एकत्वमें बहुत्व (सापेक्षता) ही सामुदायिक जीवनकी सफलताका रहस्य है।

■

असदाचारका खेल

भावी पीढ़ीके निर्माणका दायित्व वर्तमान पीढ़ीपर होता है। वर्तमान पीढ़ी जैसी होती है वैसी ही भावी पीढ़ी बन जाती है। वर्तमान पीढ़ीका आचार-विचार ही भावी पीढ़ीमें संक्रान्त होता है। वर्तमान पीढ़ीका यह दोहरा दायित्व है कि वह अपने लिए भी और भावी पीढ़ीके लिए भी सदाचार अपनाये।

प्रारम्भके क्षणोंमें असदाचारके परिणाम अच्छे लगते हैं और ऐसा लगता है कि असदाचारसे ही आदमी धन कमा सकता है। पर जैसे-जैसे असदाचारकी छाया लम्बी होती चली जाती है वैसे-वैसे ही आदमीके लिए वह डरावनी होती जाती है। आज असदाचारका बोलबाला है तो समस्यासे मुक्त कौन है? अदालतमें राज्य कर्मचारी व्यापारीके लिए समस्या है तो दुकानमें व्यापारी राज्य कर्मचारीके लिए समस्या है। रिश्वत देनेकी विवशता उनके सामने भी आती है, जो रिश्वत लेते हैं। कचहरी या सचिवालयमें रिश्वत लेनेवाला रेलके रिजर्वेशन या टिकिटके लिए रिश्वत देता भी है। आटेमें मिलावट कर बेचनेवाला मिलावटी घी खरीदता भी है। यह किसीको अच्छा नहीं लगता कि दवामें मिलावट हो। पर आटे, घी, और दूधमें मिलावट होगी तो दवामें क्यों नहीं होगी? रिश्वत होगी तो मिलावट क्यों नहीं होगी और मिलावट होगी तो रिश्वत क्यों नहीं होगी? ये दोनों होंगे तो मँहगाई क्यों नहीं होगी? कोई रिश्वत लेता है, कोई मिलावट करता है और कोई अनाजको गोदामोंमें भरकर मँहगाई उत्पन्न करता है...यह सब काम अलग-अलग हैं पर ऐसा करनेवालोंका उद्देश्य एक ही है और वह है अधिक पैसा

जोड़ना ।

लगता है कि असदाचार शतरंजका खेल है। इसे खेल-खेल कर लोग अपना जी बहला रहे हैं। जीतमें कोई नहीं है। जीत उन्हींकी होगी, जो इस खेलसे दूर हैं।

■

समाधानकी अपेक्षा

मैं पद-यात्री हूँ। गाँव-गाँवमें विहार करता हूँ और जनतासे मिलता हूँ। इसीलिए मुझे देशके अन्तर्दर्शनका अवसर मिलता है। मैंने इन दिनों जो देखा, वह समाधान-कारक नहीं है। हर व्यक्तिका मन समाधानसे खाली है।

भारतीय मानसमें अभी भी नैतिक मूल्योंके प्रति आस्था है। किन्तु कुछ परिस्थितियाँ लोगोंको विवश कर रही हैं। वर्तमान अनास्था उन्हीं विवशताओंका परिणाम है। उन परिस्थितियोंके निवारणका यह सर्वाधिक उपयुक्त समय है। बहुत लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि वर्तमानको नहीं सुलझाया गया तो उनका परिणाम भयंकर हो सकता है।

मुझे लगता है कि सत्तारूढ़ वर्गका जितना आकर्षण अपने दलका अस्तित्व बनाये रखनेमें है, उतना समस्याओंके समाधानमें नहीं है। आलोचक दलोंका आकर्षण भी सत्ताको प्राप्त करनेमें अधिक है। सत्ता काम करनेका साधन है — इस तर्कको मैं अस्वीकार नहीं करता, किन्तु जब सत्ता सत्ताके लिए बन जाये, तब समस्याएँ बढ़ती हैं।

मुझे लगता है कि आज राजनैतिक दलोंने मनुष्योंको विभक्त कर रखा है। होना यह चाहिए कि मनुष्य आगे हो, दल पीछे। हो यह रहा है कि दल आगे हैं, मनुष्य पीछे।

दल शक्तिके माध्यम हैं, इस मान्यताका मैं विरोध नहीं करता, पर मनुष्य जातिकी हित साधनाके लिए जो दल हैं, वे उसीको खण्डित करने लग जायें तब समस्याएँ उलझती हैं।

यदि ऐसा नहीं हो रहा है तो मुझे प्रसन्नता होगी और यदि हो

रहा है तो उसमें परिवर्तन लानेकी बात सोची जाये। जो राजनैतिक लोग सम्प्रदायोंकी संकीर्ण मनोवृत्तिकी कटु आलोचना किया करते थे, वे नहीं देखते कि आज राजनीतिक दल सम्प्रदायका रूप ले रहे हैं और संकीर्ण मनोवृत्तिको पोषण दे रहे हैं।

मैं उस धर्म-सम्प्रदायको बुरा मानता हूं जो मनुष्यको संकीर्ण दृष्टिसे देखना सिखाता है और मैं उस राजनीतिक दलको भी उतना ही बुरा मानता हूं जो मनुष्यको मनुष्यकी दृष्टिसे नहीं देखने देता। मेरा सब दलोंके लोगोंसे सम्बन्ध है और मैं किसी भी दलका नहीं हूं। मेरे सामने दलगत व्यावहारिक उलझनें नहीं हैं, यह मैं जानता हूं। नीति-भेद और विचार-भेद होते हैं, वहां मनुष्य मनुष्यसे उतना दूर चला जाता है, जितनी कल्पना नहीं होती पर उस दूरीका परिणाम गम्भीर होता है।

हर समस्याका मानवीय पहलू भी होता है। उसे उसी दृष्टिसे देखना चाहिए। इसमें मानवताको अकल्पित समाधान मिलता है।

■

युद्ध और अहिंसक प्रतिकार

युद्ध एक चिरकालीन समस्या है। कुछ लोग समस्याका समाधान पानेके लिए युद्ध करते रहे हैं और कुछ लोग युद्धकी समस्याका प्रतिकार करनेके लिए सोचते रहे हैं। कुछ लोगोंकी दृष्टिमें शक्ति-सन्तुलन ही युद्धका प्रतिकार है और कुछ लोगोंकी दृष्टिमें उसका प्रतिकार है अहिंसा। शक्ति-सन्तुलनवादी अस्त्र-शस्त्रोंमें विश्वास करते हैं, इसका अर्थ है, वे युद्धमें विश्वास करते हैं। अहिंसावादी निःशस्त्रीकरणमें विश्वास करते हैं, इसका अर्थ है वे युद्धमें विश्वास नहीं करते। सब अहिंसावादी हों तो युद्ध शब्दका अस्तित्व ही न रहे, पर सब लोग वैसे नहीं हैं। जिनमें साम्राज्य-विस्तारका रस है, भय और सन्देह है, जो भौतिकतामें सर्वोपरि आस्था रखते हैं, वे युद्धका अस्तित्व चाहते हैं। उन्होंने युद्धको भयंकर समस्याके रूपमें देखा है, जिनकी आन्तरिक आस्था प्रबल है। वे युद्ध नहीं चाहते फिर भी उन्हें यह उपाय नहीं मिला है, जिससे युद्धका अस्तित्व मिट जाये।

पदार्थवादकी दृष्टिमें मानव बहुत विकास कर चुका है पर अहिंसावादकी दृष्टिसे वह अभी बहुत कम विकसित है। जिस दिन सम्पूर्ण मनुष्य जाति युद्ध, अपहरण, शोषण आदिको दास-प्रथाकी भाँति अमानवीय कर्म मानने लगेगी, उस दिन उसका विकास एक निश्चित रेखापर होगा। अभी इस स्थिति तक पहुँचनेमें अनेक शताब्दियाँ और प्रचुर प्रयत्नोंकी आवश्यकता है। दास-प्रथाके विरोधमें जो आवाज उठी थी, वह हजारों वर्षोंके बाद पूर्णतः क्रियान्वित हुई। वैसे ही युद्धके विरोधमें जो प्रबल स्वर उठेगा वह एक दिन अवश्य ही सफल होगा। हम निराश न हों, युद्धके विरोधमें

प्रबल आवाज उठायें और उठाते रहें।

युद्धका प्रतिकार कैसे ?

आज हमारा तत्काल चिन्तनीय विषय है, युद्धका प्रतिकार कैसे हो ? हिंसासे हो या अहिंसासे ? शस्त्रसे हो या अशस्त्रसे ? चीनने हिन्दुस्तानपर आक्रमण किया तब सारे देशमें हिंसक-प्रतिकार एवं सशस्त्र प्रतिरोधका स्वर प्रबल हो उठा। यह आश्चर्यकी बात नहीं है। हिंसक-प्रतिकार चिरकालसे परिचित है। उसमें मनुष्यकी प्रबल आस्था है। अहिंसक-प्रतिकारसे वह पूर्णतः परिचित नहीं है। युद्धके अहिंसक-प्रतिकारका चिन्तन प्राचीन साहित्यमें विशेष उपलब्ध भी नहीं है। महात्मा महावीरके श्रावक अनाक्रमणका व्रत लेते थे। पर प्रत्याक्रमणका अधिकार नहीं छोड़ते थे। महाराज चेटक किसीपर आक्रमण नहीं करते थे और आक्रान्ता-पर भी एक बारसे अधिक प्रहार नहीं करते थे। यह अहिंसक प्रतिकार तो नहीं, किन्तु उस दिशामें एक बहुत साहसी चरण था।

अहिंसक प्रतिकारकी विशेष चरचा महात्मा गान्धीसे प्रारम्भ होती है। आजका अहिंसावादी यह सोचता है कि अहिंसामें केवल निषेधात्मक ही नहीं, प्रतिकारात्मक शक्ति भी होनी चाहिए। उसके बिना अहिंसा तेजस्वी नहीं बनती। यह प्रतिकार बाहरी साधनोंसे नहीं हो सकता। यह आत्मबलके विकासपर ही निर्भर है।

युद्ध दोनों पक्षोंसे

मनुष्यको युद्ध, शस्त्र-बल या पाशविक-शक्तिमें विश्वास न हो तो युद्धकी अन्त्येष्टि कर सकता है। युद्ध एक पक्षसे नहीं हो सकता, दोनों पक्ष लड़ते हैं, तब वह होता है। एक लड़े और दूसरा न लड़े तब आक्रमण हो सकता है, युद्ध नहीं। प्रत्याक्रमण न होनेपर आक्रमण अपने-आप शिथिल हो जाता है। जैसे झूठी अफवाहोंसे आक्रान्ताको बल मिलता है वैसे ही प्रत्याक्रमणसे भी उसे बल और वेग मिलता है। राक्षससे लड़ो,

तुम्हारी शक्ति उसमें संक्रान्त हो जायेगी, उसकी शक्ति दूनी हो जायेगी। उससे मत लड़ो, उसकी शक्ति क्षीण हो जायेगी। प्रत्येक आवेगकी यही स्थिति है। युद्ध एक आवेग है। वह एकपक्षीय होकर प्रबल नहीं हो सकता। वह प्रबल तभी बनता है, जब आवेगके प्रति आवेग आता है, आक्रमणके प्रति आक्रमण होता है। पर जो लोग 'विषस्य विषमौषधं' या 'कण्टकात्कण्टकमुद्धरेत्' या 'शठे शाठ्यं समाचरेत्'-जैसे नीति-वाक्योंमें विश्वास करते हैं, वे इस बातमें कैसे विश्वास करेंगे कि आवेगके प्रति आवेग न किया जाये, आक्रमणके प्रति आक्रमण न किया जाये।

दूधका उफान जलका छींटा देनेसे शान्त होता है। लोग इस प्रक्रिया-को जानते हैं पर यह प्रक्रिया सर्वत्र सफल होती है, ऐसा वे नहीं मानते। विश्वमें युद्धके अहिंसक प्रतिकारका कोई उदाहरण भी नहीं है इसलिए उसे सहज मान्यता मिल भी कैसे सकती है ? आज तो हमारे लिए यही प्राप्त है कि हम इस विषयपर विशुद्ध चरचा करें, मन्थन करें, सम्भव है कोई निष्कर्ष निकल आयेगा, नवनीत निकल आयेगा। कोई भी आक्रान्ता अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिए दूसरेपर आक्रमण करता है और वह तभी करता है, जब सामनेवाला अशक्त और कायर जान पड़ता है। आक्रमणको रोकनेके लिए दो ही उपाय हैं –

(१) शक्ति (२) पराक्रम

शक्ति शस्त्र-सज्जामें होती है और अभयमें भी। पराक्रम शरीरमें भी होता है और मनमें भी। जिन्हें यह भय होता है कि हमारा प्रदेश कहीं दूसरोंके हाथमें चला न जाये, वे शस्त्र-शक्ति और शरीर-बलसे आक्रमण-को विफल करना चाहते हैं और जिन्हें किसी भी बातका भय नहीं होता, जो केवल मानवीय एकतामें अदम्य विश्वास रखते हैं वे उसे विफल करना चाहते हैं, अभयसे और मनोबलसे। आक्रमण दोनोंके लिए असह्य है। पर प्रतिकारकी पद्धतियाँ एक नहीं हैं। मौतसे न डरे, यह सैनिकके लिए भी पहली शर्त है और अहिंसकके लिए भी। शस्त्र-सज्जित होना सैनिककी

दूसरी शर्त है, किन्तु अहिंसककी नहीं। शरीर-बलका प्रयोग करना सैनिककी तीसरी शर्त है किन्तु अहिंसककी नहीं।

अहिंसक प्रतिकारका मार्ग

आक्रमणका जो अहिंसक प्रतिकार करना चाहेगा –

१. वह अभय होगा, मौतसे नहीं डरेगा।

२. वह प्रेमसे ओतप्रोत होगा – मानवीय एकतामें अटूट आस्था रखेगा। आक्रान्ताके प्रति मनमें घृणा नहीं लायेगा।

३. वह मनोबली होगा – अन्यायसे असहयोग करनेकी भावनाको किसी भी स्थितिमें नहीं छोड़ेगा।

अभय, प्रेम और मनोबलकी दीक्षासे दीक्षित व्यक्ति आक्रमणको जिस तत्परतासे विफल कर सकते हैं, उस तत्परतासे उसे वे सैनिक विफल नहीं कर सकते, जो शस्त्र-सज्जित और शरीर-बलसे समर्थ होते हैं। आचार्य हेमचन्द्रने इसी भावसे लिखा था – युद्धमें विजय सन्दिग्ध होती है और जन-संहार निश्चित। इसलिए जबतक दूसरे उपाय सम्भव हों तबतक युद्ध न किया जाये। मैं इसे इस भाषामें सोचता हूँ – युद्धमें विजय निश्चित हो फिर भी वह न किया जाये। क्योंकि वह समस्याका समाधान नहीं। वैज्ञानिक युगका मनुष्य क्या वायुयानको छोड़ बैलगाड़ीमें यात्रा करना पसन्द करेगा? आजका बुद्धिवादी मनुष्य विश्व-राज्यकी कल्पनाको छोड़ युद्ध करना पसन्द करेगा? युद्ध आजके विकसित मानवके सिरपर कलंकका टीका है। सचमुच इसे दफ़नाकर ही मनुष्य अपने-आपको बुद्धिवादी कहलानेका अधिकारी है।

प्रत्याक्रमणका विकल्प

जो लोग यह सोचते हैं कि आक्रमण प्रत्याक्रमणसे ही विफल हो सकता है, उनका चिन्तन विकल्प-शून्य है। किन्तु अहिंसावादीका चिन्तन निर्विकल्प नहीं है। उसकी दृष्टिमें प्रत्याक्रमणका विकल्प है, अहिंसक प्रतिकार।

कुछ लोग यह मानते हैं — हिंसक प्रतिकारकी अपेक्षा अहिंसक प्रतिकार श्रेष्ठ है पर प्रश्न यह है कि वह कैसे किया जाये ? मैं मानता हूँ — अनुशासन, अभय, प्रेम और मनोबलका विकास हो तो अहिंसक प्रतिकार करनेमें कोई कठिनाई नहीं होती। हमें जनताको इन तीन बातोंसे दीक्षित करना चाहिए कि वह आक्रमणका अहिंसक प्रतिरोध करनेके लिए आक्रान्ताका सहयोग न करे, उसका शासन स्वीकार न करे और उसके अनुचित पगका विरोध करे। चौथी बात यह है कि जबतक आक्रान्ता अपने देशसे लौट न जाये तबतक इस प्रतिकार पद्धतिमें शिथिलता न आने दे। यह प्रतिकारकी पद्धति कभी विफल नहीं होगी। यह सही है कि आक्रान्ताके साथ असहयोग करनेपर कष्ट झेलने पड़ते हैं, उसका शासन स्वीकार न करनेपर यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। उसका विरोध करनेपर बाधाओंका सामना करना पड़ता है किन्तु यह सब सहे जा सकते हैं, जब अहिंसा जनताका आत्म-धर्म बनता है और उसकी आराधनाके लिए वह अनुशासित, अभय, प्रेममय और मनोबली बनती है।

महात्मा गान्धी अहिंसाको धर्म मानते थे और कांग्रेसने उसे नीतिके रूपमें स्वीकार किया था। महात्मा गान्धी जन-मानसके प्रेरक थे और काँग्रेसने शासनका भार सँभाला। यही कारण है कि काँग्रेस सरकारने शस्त्र-सज्जाको प्रोत्साहन दिया और अहिंसक प्रतिकारका मार्ग चुना। अहिंसा उसका धर्म होता तो ऐसा कभी नहीं होता पर वह उसकी नीति थी, इसलिए उसमें परिवर्तन हुआ। धर्म सर्वथा अपरिवर्तनीय होता है, नीति अपरिवर्तनीय नहीं होती।

मेरे लिए अहिंसा नीति नहीं किन्तु आत्म-धर्म है। मैं उसे छोड़ कोई बात सोच ही नहीं सकता। हिंसाका समर्थन मेरे लिए सर्वथा असम्भव है। मैं भारतीय नागरिकको यही परामर्श दूँगा कि वह अहिंसाके प्रतिकारके लिए शक्ति-संचय करे और युद्धके कगारपर खड़े हुए विश्वके सामने एक आलम्बन प्रस्तुत करे।

■